अमृता प्रीतम



अक्षरों के साये

अक्षरों के साये

आत्मकथा

अक्षरों के साये

बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित
'रसीदी टिकट'
के बाद अमृता प्रीतम की
यह एक और आत्मकथा
न केवल उनके आज तक के
समग्र जीवन को
अपने कथावृत्त में समेटती है,
बल्कि एक बिलकुल नये,
अध्यात्म से जुड़े धरातल पर
उसका विवरण प्रस्तुत करती है।

ISBN: 9789350643327
संस्करण : 2016 अमृता प्रीतम
AKSHARON KE SAAYE(Autobiography) by Amrita Pritam

राजपाल एण्ड सन्ज़
1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट—दिल्ली— 110006
फोन : 011–23869812, 23865483, फैक्स: 011—23867791
e—mail:sale@rajpalpublishing.com
www.rajpalpublishing.com
www.facebook.com/rajpalandsons

अक्षरों के साये

एक अन्तर्यात्रा

अमृता प्रीतम

राजपाल

घर, समाज, मजहब और सियासत के नाम पर...
दरो–दीवार पर जो साये लिपटते रहे —
कुछ उनकी बात करती यह पुस्तक —
एक उस मुक़ाम पर पहुंचती है —
जहां अन्तचेंतना के साये अक्षरों में उतरते हैं —
चेतना का नादमय होना अक्षरों में ढलता नहीं —
फिर भी उसकी बात करते हुए यह कुछ पृष्ठ हैं —
जिन्हें एक अन्तर्यात्रा कह सकती हूं —

— अमृता

क्रम

अक्षरों
के
साये



मौत के साये

जब मैं पैदा हुई, तो घर की दीवारों पर मौत के साये उतरे हुए थे...

मैं मुश्किल से तीन बरस की थी, जब घुटनों के बल चलता हुआ मेरा छोटा भाई नहीं रहा। और जब मैं पूरे ग्यारह बरस की भी नहीं थी. तब मां नहीं रही। और फिर मेरे जिस पिता ने मेरे हाथ में कलम दी थी वे भी नहीं रहे...

और मैं इस अजनबी दुनिया में अकेली खड़ी थी—अपना कहने को कोई नहीं था। समझ में नहीं आता था—कि ज़मीन की मिट्टी ने अगर देना नहीं था, तो फिर वह एक भाई क्यों दिया था? शायद गलती से कि उसे जल्दी से वापिस ले लिया और कहते हैं—मां ने कई मन्नतें मान कर मुझे पाया था, पर मेरी समझ में नहीं आता था कि उसने कैसी मन्नतें मानीं और कैसी मुराद पाई? उसे किस लिए पाना था अगर इतनी जल्दी उसे धरती पर अकेले छोड़ देना था...

लगता—जब मैं मां की कोख से आग की लपट–सी पैदा हुई—तो ज़रूर एक साया होगा—जिसने मुझे गाढ़े धुएं की घुट्टी दी होगी...

बहुत बाद में —उल्का लफ्ज़ सुना, तब अहसास हुआ कि सूरज के आस पास रहने वाली उल्का पट्टी से मैं आग के एक शोले की तरह गिरी थी और अब इस शोले के राख होने तक जीना होगा...

आने वाले वक्त का साया

जब छोटी–सी थी, तब सांझ घिरने लगती, तो मैं खिड़की के पास खड़ी—कांपते होठों से कई बार कहती—अमृता ! मेरे पास आओ।

शायद इसलिए कि खिड़की में से जो आसमान सामने दिखाई देता, देखती कि कितने ही पंछी उड़ते हुए कहीं जा रहे होते...ज़रूर घरों को—अपने—अपने घोसलों को लौट रहे होते होंगे...और मेरे होठों से बार—बार निकलता—अमृता, मेरे पास आओ ! लगता, मन का पंछी जो उड़ता–उड़ता जाने कहां खो गया है, अब सांझ पड़े उसे लौटना चाहिए...अपने घर–अपने घोसले में मेरे पास...

वहीं खिड़की में खड़े–खड़े तब एक नज़्म कही थी—कागज़ पर भी उतार ली होगी, पर वह कागज़ जाने कहां खो गया, याद नहीं आता...लेकिन उसकी एक पंक्ति जो मेरे होठों पर जम-सी गई थी—वह आज भी मेरी याद में है। वह थी—'सांझ घिरने लगी, सब पंछी घरों को लौटने लगे, मन रे ! तू भी लौट कर उड़ जा !

कभी यह सब याद आता है—तो सोचती हूं—इतनी छोटी थी, लेकिन यह कैसे हुआ—कि मुझे अपने अंदर एक अमृता वह लगती—जो एक पंछी की तरह कहीं आसमान में भटक रही होती, और एक अमृता वह जो शांत वहीं खड़ी रहती थी और कहती थीं—अमृता! मेरे पास आओ!

अब कह सकती हूं—ज़िंदगी के आने वाले कई ऐसे वक्तों का वह एक संकेत था—कि एक अमृता जब दुनिया वालों के हाथों परेशान होगी, उस समय उसे अपने पास बुलाकर गले से लगाने वाली भी एक अमृता होगी—जो कहती होगी—अमृता, मेरे पास आओ!

हथियारों के साये

तब—जब पिता थे. मैं देखती कि वे प्राचीन काल के ऋषि इतिहास और सिक्स इतिहास की नई घटनाएं लिखते रहते, सुनाते रहते। घर पर भी सुनाते थे, और बाहर बड़े–बड़े समागमों में भी लोग उन्हें फूलों के हार पहनाते थे—उनके पांव छूते थे...

उनके पास खुला पैसा कभी नहीं रहा, फिर भी एक बार उन्होंने बहुत–सी रकम खर्च की, और सिक्स इतिहास की कई घटनाओं के स्लाइड्स बनवाए—जो एक प्रोजेक्टर के माध्यम से, दीवार पर लगी बड़ी–सी स्कीन पर दिखाते, और साथ–साथ उनकी गाथा— अपनी आवाज़ में कहते, लोग मंत्र–मुग्ध से हो जाते थे...

एक बार अजीब घटना हुई। उन्होंने एक गुरुद्वारे की बड़ी–सी दीवार पर एक स्कीन लगा कर वे तस्वीरें दिखानी शुरू कीं, आंगन में बहुत बड़ी संगत थी, लोग अकीदत से देख रहे थे, कि उस भीड़ में से दो निहंग हाथों में बर्छे लिए उठ कर खड़े हो गए, और ज़ोर से चिल्लाने लगे—यहां सिनेमा नहीं चलेगा...

मैं भी वहीं थी, पिता मुझ छोटी–सी बच्ची को भी साथ ले गए थे। और मैंने देखा—वे चुप के चुप खड़े रह गए थे। एक आदमी उनके साथ रहता था, उस सामान को उठा कर संभालने के लिए, जिसमें प्रोजेक्टर और स्लाइड्स रखने निकालने होते थे...

पिताजी ने जल्दी से अपने आदमी से कुछ कहा— और मुझे संभाल कर, मेरा हाथ पकड़ कर, मुझे उस भीड़ में से निकाल कर चल दिए...

लोग देख रहे थे, पर खामोश थे। कोई कुछ नहीं कह पा रहा था—सामने हवा में —दो बर्छे चमकते हुए दिखाई दे रहे थे...

यह घटना हुई कि मेरे पिता ने खामोशी अख्तियार कर ली। सिक्स इतिहास को लेकर, जो दूर–दूर जाते थे, और भीगी हुई आवाज़ में कई तरह की कुरबानियों का जिक्र कहते थे, वह सब छोड़ दिया...

एक बाद बहुत उदास बैठे थे, मैंने पूछा—क्या वह जगह उनकी थी? उन लोगों की?

कहने लगे—नहीं, मेरी थी। स्थान उसका होता है, जो उसे प्यार करता है...मैं खामोश कुछ सोचती रही, फिर पूछा— आप जिस धर्म की बात करते रहे, क्या वह धर्म उनका नहीं है?

पिता मुस्करा दिए—कहने लगे— धर्म मेरा है, कहने को उनका भी है, पर उनका होता तो बर्छे नहीं निकालते...उस वक्त मैंने कहा था— आपने यह बात उनसे क्यों नहीं कही? पिता कहने लगे—किसी मूर्ख से कुछ कहा–सुना नहीं जा सकता...

वह बड़ा और काला बक्सा फिर कभी नहीं खोला गया। उनकी कई बरसों की

मेहनत, उस एक संदूक में बंद हो गई—हमेशा के लिए...

बाद में—जब हिंदुस्तान की तक्सीम होने लगी, तब वे नहीं थे। कुछ पूछने– कहने को मेरे सामने कोई नहीं था...कई तरह के सवाल आग की लपटों जैसे उठते—क्या यह ज़मीन उनकी नहीं है जो यहां पैदा हुए? फिर ये हाथों में पकड़े हुए बर्छे किनके लिए हैं? अखबार रोज़ खबर लाते थे कि आज इतने लोग यहां मारे गए, आज इतने वहां मारे गए...पर गांव कस्बे शहर में लोग टूटती हुई सांसों में हथियारों के साये में जी रहे थे...

बहुत पहले की एक घटना याद आती, जब मां थी, और जब कभी मां के साथ उनके गांव में जाना होता, स्टेशनों पर आवाज़ें आती थीं—हिंदू पानी, मुसलमान पानी, और मैं मां से पूछती थी—क्या पानी भी हिन्दू मुसलमान होता है ?— तो मां इतना ही कह पाती—यहां होता है, पता नहीं क्या क्या होता है...

फिर जब लाहौर में, रात को दूर—पास के घरों में आग की लपटें निकलती हुई दिखाई देने लगीं, और वह चीखें सुनाई देतीं जो दिन के समय लंबे कर्फ्यू में दब जाती थीं...पर अखबारों में से सुनाई देती थीं—तब लाहौर छोड़ना पड़ा था...

थोड़े दिन के लिए देहरादून में पनाह ली थी—जहां अखबारों की सुर्खियों से भी जाने कहां–कहां से उठी हुई चीखें सुनाई देतीं...रोज़ी–रोटी की तलाश में दिल्ली जाना हुआ—तो देखा—बेघर लोग वीरान से चेहरे लिए—उस ज़मीन की ओर देख रहे होते, जहां उन्हें पनाहगीर कहा जाने लगा था...अपने वतन मैं—बेवतन हुए लोग...



चलती हुई गाड़ी से भी बाहर के अंधेरे में मिट्टी के टीले इस तरह दिखाई देते—

जैसे सारी ज़मीन पर कब्रें बिछी हुई हैं...

बहती हुई हवा इस तरह थी—जैसे अंधेरे का विलाप हो! उस समय वारिस शाह का कलाम मेरे सामने आया, जिसने हीर की लंबी दास्तान लिखी थी—जो लोग घर–घर में गाते थे। मैं वारिस शाह से ही मुखातिब हुई...

उठो वारिस शाह—
कहीं कब्र में से बोलो
और इश्क की कहानी का —
कोई नया वरक खोलो...

पंजाब की एक बेटी रोई थी
तूने लंबी दास्तान लिखी
आज तो लाखों बेटियां रोती हैं
तुम्हें—वारिस शाह से—कहती हैं...

दर्दमंदों का दर्द जानने वाले
उठो! और अपना पंजाब देखो!
आज हर बेले में लाशें बिछी हुई हैं
और चनाब में पानी नहीं
...अब लहू बहता है...

पांच दरियाओं के पानी में
यह ज़हर किसने मिला दिया
और वही ज़हर का पानी
खेतों को बोने सींचने लगा...

पंजाब की ज़रखेज़ ज़मीन में
वही ज़हर उगने फैलने लगा
और स्याह सितम की तरह
वह काला ज़हर खिलने लगा...

वही ज़हरीली हवा
वनों–वनों में बहने लगी
जिसने बांस की बांसुर–
ज़हरीली नाग—सी बना दी...

नाग का पहला डकं मदारियों को लगा
और उनके मत्रं खो गए...
फिर जहां तहां सब लोग–
ज़हर से नीले पड़ने लगे...

देखो ! लोगों के होठों से
एक ज़हर बहने लगा
और पूरे पंजाब का बदन
नीला प़डने लगा...

गले से गीत टूट गए
चर्खे का धागा टूट गया
और सखियां — जो अभी अभी यहां थी
जाने कहां कहां गई...

हीर के मांझी न — वह नौका डुबो दी
जो दरिया में बहती थी
हर पीपल से टहनियां टूट गई
जहां झूलों की आवाज़ आती थी...

वह बांसुरी जाने कहां गई
जो मुहब्बत का गीत गाती थी
और रांझे के भ़ाई बंधु
बांसुरी बजाना भूल गए...
ज़मीन पर लहू बहने लगा—
इतना—कि कब्रें चूने लगीं
और मुहब्बत की शहज़ादियां
मज़ारों में रोने लगीं...

सभी कैदों में नज़र आते हैं
हुस्न और इश्क को चुराने वाले
और वारिस कहां से लाएं
हीर की दास्तान गाने वाले...

तुम्हीं से कहती हूं–वारिस!
उठो! कब्र में से बोलो
और इश्क की कहानी का
कोई नया वरक खोलो...

तब अजीब वक्त सामने आया—यह नज़्म जगह—जगह गाई जाने लगी। लोग रोते और गाते। पर साथ ही कुछ लोग थे, जो अखबारों में मेरे लिए गालियां बरसाने लगे, कि मैंने एक मुसलमान वारिस शाह से मुखातिब होकर यह सब क्यों लिखा? सिक्ख तबके के लोग कहते कि गुरु नानक से मुखातिब होना चाहिए था। और कम्युनिस्ट लोग कहते कि गुरु नानक. से नहीं — लेनिन से मुखातिब होना चाहिए था...

यह सब होता रहा—पर कई नज़्में—मुझ पर जैसे बादलों सी घिरतीं और बरस जातीं—उस वक्त पंजाब की कहानी लगी

तकदीर उठी– रकाब में पैर रखा
पोठोहार को घोड़े के पैरों में कुचलती
पूरे पंजाब को देखने लगी...

उसके घोड़े की आवाज़ सुन कर
धरती आकाश चौंक गए
भारत—मां का दिल कांपने लगा
अब मेरी आबरू का क्या होगा...

क्या किसी ने वह बेटा नहीं जना
जो इस घोड़े की लगाम पकड़ ले!
क्या कोई मदारी नहीं
जो काले नाग को कील ले!

ऊंचे लंबे खेत थे – हरे भरे
खलवाड़े में आग किसने लगा दी
आग की लपटों पर–
लोग सान चढ़ने लगे...

पांच दरियाओं के पानी
गर्म तेल से बहने लगे...

खेतों के बीज हाथों से छूट गए
हांडियां पकाती हुई कलछियां फूट गई
कुएं में मटकी की रस्सी टूट गई
कलाइयों की चूड़िया–टूट गई...

इस पेड़ का क्या होगा?
इस छाया का क्या होगा?
नफरत के कीड़े – तो जड़ में लगे हैं
और राही – रास्ता भूलने लगे हैं...

कैसी हवा चलने लगी –
राजा ! तू कैसा राज करेगा
कि आने वाली सदी तक
एक राख–सी उड़ने लगी...

राजा! तू कैसा राज करेगा–
सिर पर कोई आकाश न रहा
पैरों के नीचे ज़मीन न रही...

मैं अक्षरों में भी भीगती रही–
आसुंओं में भी भीगती रही
लिखती रही...

उस मज़हब के माथे पर से
यह खून कौन धोएगा...
जिसके आशिक – हर गुनाह
मज़हब के नाम से करते
राहों पर कांटे बिछाते हैं
ज़बान से ज़हर उगलते
जवान खून को बहाते हैं
और खून से भरे हाथ
मज़हब की ओट में छिपाते हैं...

तहज़ीब की लाश –
बाज़ार में रुलने लगी
और हर गुनाह की बात –
मज़हब के माथे पर लगने लगी...

उन दिनों जनरल शाह नवाज़ अगवा हुई लड़कियों को तलाश रहे थे, उनके लोग, जगह–जगह से टूटी बिलखती लड़कियों को ला रहे थे– और पूरा–पूरा दिन– ये रिपोर्टें उन्हें मिलती रहतीं। मैंने कुछ एक बार उनके पास बैठ कर बहुत सी वारदातें सुनीं। ज़ाहिर है कि कई लड़कियां गर्भवती हालात में होती थीं...

उस लड़की का दर्द कौन जान सकता है–जिसके बदन की जवानी को ज़बर से मां बना दिया जाता है...एक नज़्म लिखी थी – मज़दूर! उस बच्चे की ओर से – जिसके जन्म पर किसी भी आंख में उसके लिए ममता नहीं होती, रोती हुई मां और गुमशुदा बाप उसे विरासत में मिलते हैं...

मेरी मां की कोख मजबूर थी–
मैं भी तो एक इन्सान हूं
आजादियों की टक्कर में
उस चोट का निशान हूं
उस हादसे का जख़्म जो मां के माथे पर लगना था
और मां की कोख को मजबूर होना था ...

मैं एक धिक्कार हूं–
जो इन्सान की जात पर पड़ रही...
और पैदाइश हूं – उस वक्त की
जब सूरज चांद –
आकाश के हाथों छूट रहे थे
और एक–एक करके

सब सितारे टूट रहे थे...

मैं मां के जख़्म का निशान हूं
मैं मां के माथे का दाग हूं

मां–
एक जुल्म को कोख में उठाती रही
और उसे अपनी कोख से
एक सड़ांध आती रही
कौन जान सकता है
एक जुल्म को, पेट में उठाना
हाड–मांस को जलाना

पेट में जुल्म का फल
रोज–राज़ बढ़ता रहा...
और कहते हैं –
आज़ादी के पेड़ को –
एक बौर पड़ता रहा...
मेरी मां की कोख मजबूर थी

हिन्दुस्तान का बंटवारा इतिहास की छाती का जख़्म बनता गया। कोई नहीं जान पाएगा– कि देश की कितनी लड़कियों के सपने कत्ल कर दिए गए थे...तब मैंने तवारीख नाम की एक लंबी नज़्म लिखी थी, जिसका एक अंश, उस लड़की की आवाज़ है, जो हजारों लड़कियों की तरह, कहीं खो गई थी...

मैं नसीब जली – पंजाब की बेटी
मैं बोल कर क्या कहूंगी –
मेरी ज़बान तो काट दी गई
हाथ भी बंध गए, पैर भी बंधे हुए
और माथे पर किस्मत–
काले नाग–सी बैठी हुई...

एक तूफान आया
यह बदन बाकी है
पर नसीब डूब गया...

अरे रहगुज़र
उस पार, कोई मिले तो कहना
अब मेरे घुटने टूट गए
मां झियों के हाथों
पतवार छूट गए–

अब नहीं जानती– मैं कहां हूं...
मां का एक आगंन था–
जाने कहां गया...

न बाबुल न भाई
न मेहंदी – न डोली
मैं कैसी ब्याही...
बस इतना जानती
कि इसी बहाने धरती पर
धर्म और ईमान बिकता है
यहां देश की नार[1] बिकती है...



उन्हीं दिनों मैंने एक उपन्यास लिखा था – 'पिंजर', जिसकी कहानी बंटवारे से पहले शुरू होती है, और बंटवारे के उस मुकाम पर आती है – जब दोनों सरकारें, अपनी–अपनी उगवाशुदा लड़कियां ढूंढ रहे हैं – और उस कहानी की पूरो वह है, जो बंटवारे से पहले उठा ली गई थी, एक निजी दुश्मनी के हाथों, और जिसे मां बाप ने वापिस लेने से इनकार कर दिया था...वह एक घटना थी, लेकिन बंटवारे के समय ऐसी घटना घर–घर में होने लगी थी– अब उठाई हुई लड़कियों के मां–बाप उन्हें ढूढ रहे थे। पूरो अपनी भाभी को तलाशती है, जो बंटवारे के समय उठा ली गई थी, और जब भाई

के हाथ उस सौंपती है, तो उस वक्त पूरो के मां बाप उसे भी लेने को तैयार हैं–लेकिन पूरो अपने बच्चे को बांहों में लिए कहती है–“:नहीं, अब तो जो भी लड़की, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी ठिकाने पर पहुंच रही है, समझना पूरो की आत्मा ठिकाने पर पहुंच रही है...”

1 नारी

अक्षरों के साये–1

मैं बहुत छोटी थी, जब मां नहीं रही–तो रात को जब मैं छत पर सोती, लगता–चांद पर मेरी मां का नाम लिखा हुआ है...

चांद की छाती पर पड़े हुए जिन दो अक्षरों के साये दिखाई देते, वे दो अक्षर र और ज थे। मेरी मां का नाम राज था, और उन्हीं दो अक्षरों का साया मुझे चांद में दिखाई देता रहा...

उठती हुई जवानी के साथ, उन्हीं दो अक्षरों में एक अक्षर और मिल गया. न और मुझे लगता, जिसके नाम के तीन अक्षरों का साया चांद पर दिखाई देता है, वह राजन जरूर कहीं इस दुनिया में होगा, जो कभी मुझे मिलेगा...

जिस तरह गीली मिट्टी पर से गुज़रने वाले के पैरों के निशान वहां पड़े हुए दिखाई देते हैं, ठीक उसी तरह मुझे चांद में उसका नाम दिखाई देता– और मैं सोचती – वह कभी मुहब्बत बन कर जाने किन राहों से गुज़रता हुआ, मेरी ज़िदगी में आएगा...

मैं ज़िदगी भर अक्षरों को कागज़ पर उतारती रही– लेकिन अहसास वही बना रहा कि सारे अक्षर चांद पर से गिरते हैं। इसीलिए एक बार कहा–

खामोशी के पेड़ से मैने
ये अक्षर नहीं तोड़े
ये तो जो पेड़ पर से झड़े थे–
मैं वही अक्षर चुनती रही...

इसी तरह एक बार वही बात कुछ अलग सूरत में आई...

मेरी खामोशी की गली से
अक्षरों के साये गुजरते रहे
रात की दहलीज़ पर–
तारे दुआ करते रहे...

चांद की मटकी से जब–
कतरे से कुछ गिरते रहे
रात की दहलीज़ पर–
तारे दुआ करते रहे...

बहुत सालों बाद। 1990 में, जब जालंधर दूरदर्शन ने मेरी जिंदगी और रचना पर एक फिल्म बनाई थी, उसमें पहले अलफाज़ मैंने यही कहे थे– चांद पर अक्षरों के साये दिखाई देने वाले...

काल–सर्प का साया

कई घटनाएं सामने आईं तो सितारों का इल्म रखने वालों ने जो कहा, उससे मैं जान पाई कि मैं जन्म से काल–सर्प योग में लिपटी हुई हूं...काल–सर्प योग तब बनता है–जब जन्म कुण्डली के सारे ग्रह, राहु और केतु के दरम्यान घिरे हुए होते हैं। बहुत से ग्रंथ इसका जिक्र करते हैं लेकिन ब्यौरे में नहीं जाते। सिर्फ एक पुस्तक मेरे हाथ में आई थी, पंडित माणिक चंद जैन की, जिसमें वे कुछ ब्यौरे से कहते हैं, कि यह कड़ा योग सिर्फ बलवान आत्माओं का होता है, पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसी आत्माओं का– जो इसे झेल लेते हैं। कमज़ोर आत्माएं तो इससे टूट जाती हैं...

कई घटनाओं से गुज़रते हुए, जब कई वर्ष गुज़र गए, तो एक पंडित जी मिले, कहने लगे–'आपका काल–सर्प योग तो है, लेकिन राहु और केतु के दरम्यान ग्रह नहीं हैं, यह केतु और राहु के दरम्यान हैं। इसलिए यह विपरीत काल–सर्प कहा जाएगा। संघर्ष तो जिंदगी भर बना रहेगा, लेकिन वह संघर्ष शुभ फल देने वाला होगा।' और फिर बहुत बरसों के बाद, पूना के एक माने हुए पंडित – किशन लाल शर्मा – मुझे मिलने के लिए आए। उन्होंने सभी पुस्तकें मराठी में लिखी हैं, लेकिन एक काल–सर्प योग हिंदी में लिखी है। पुस्तक देखी, तो हैरानी हुई कि उन्होंने बहुत गहरे में उतर कर इस योग का अध्ययन किया है। प्राचीन ग्रंथों ने बारह घरों के हिसाब से जो इसे बारह नाम दिये हैं, वे भी दर्ज किए हैं – अनंत काल–सर्प योग, कुलिक काल–सर्प योग, वासुकी काल–सर्प योग, शंखपाल काल– सर्प योग, पद्म काल–सर्प योग, महापद्म काल–सर्प योग, तक्षक काल–सर्प योग, कर्कोटक काल–सर्प योग, शंखचूड़ काल–सर्प योग और शेषनाग काल–सर्प योग।

जब मेरी कुण्डली में काल–सर्प योग की बात चली, तो वे कहने लगे –":आपका काल–सर्प योग शुभ फल प्रदान करेगा। यह सप्त स्थान से लेकर प्रथम स्थान तक ही है, इसलिए यह छत्र योग बन जाएगा।"

उस वक्त मैंने कहा–इसका मतलब है कि कि सर्प का फल छत्र की तरह होगा, और मुझे इसके साये में जीना है...

पूर्वजन्म का साया–1

उठती हुई जवानी के समय – एक छोटी–सी घटना हुई थी, लाहौर और अमृतसर के दरम्यान एक छोटा–सा नगर आबाद हुआ था–प्रीत नगर, जहां एक बार उर्दू–पंजाबी शायरी की एक शाम मनाई गई, जहां से लौटते हुए लाहौर के लिए जो बस पकड़नी थी, उस बस स्टैण्ड के लिए दो या तीन मील सबको चलना था। पहली शाम से बादल घिर आए थे, पानी बरसने लगा था, पर लौटते समय हल्की–सी धूप निकल आई थी, कच्चा रास्ता, रात के बरसे पानी से बहुत गीला हो रहा था, कहीं–कहीं कीचड़–सा भी। करीब पन्द्रह लोग थे, आगे पीछे चलते हुए, जिनमें एक कोई वह था, जिसे पिछली रात से मैंने अक्सर ख़ामोश–सा देखा था, उसका पतला और लम्बा–सा साया, जहां–जहां पड़ता, देखा, मैं शांत–सी उसे साये में चलने लगी थी...

बस इतनी–सी घटना थी, और मैं चेतन मन से बिल्कुल नहीं जान पाई थी कि आने वाले बरसों–बरसों तक मुझे इस साये के साथ चलना होगा...

सपनों ने एक लीला रचा दी–अक्सर एक दरिया दिखाई देता, जिसमें एक नाव होती, अपने को भी उस नाव में देखती, उसे भी। दरिया के दूर पार कोई नगर कोई बस्ती दिखाई नहीं देती थी, कुछ पता नहीं था–यह नाव कहां से चली, और कहां जाएगी...दूर पार दिखाई देते पेड़ों में एक सरसराहट होती, पर मेरे उसके दरम्यान किसी लफ़्ज की सरसराहट तक नहीं थी...

फिर हाथ की कलम से, कागजों पर सरसराहट होने लगी, और जाने कितनी नज़्में – पानी में बहते हुए पेड़ों के पत्तों की तरह कागज़ों पर झड़ने लगीं...

यह मेरा और साहिर का रिश्ता, रिश्तों की किसी पहचान की पकड़ में नहीं आएगा। इसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता...अभी, इन दिनों, नेहरू और एडविना की मुहब्बत की दास्तान कुछ ब्यौरे से लिखी हुई सामने आई है, जिसमें यह जिक्र भी, कि नेहरू कभी–कभी उस लेडी माउंटबेटन को 'मीरा' कह कर बुलाते थे...एडविना एक दिन देखती–सी रह गई, जब गांधी जी ने कहा–"मैं तुझे देखते ही पहचान गया था कि पूर्व जन्म में तू भारत में पैदा हुई थी, और तेरा नाम मीरा था..." और पास खड़े हुए जवाहर लाल जी से गांधी जी ने पूछा–"क्यों जवाहर! मैं ठीक कह रहा हूं न?" और जवाहर लाल जी के चेहरे पर एक गुलाबी रंग उतर आया, कहने लगे–"हां, ठीक कह रहे हैं..."

नेहरू और एडविना के – बरसों लम्बे रिश्ते में, कभी खंडहरात में, कभी फूलों की वादियों में बैठी हुई – वह घड़ियां आईं, जिनको किसी रिश्ते का नाम नहीं दिया जा सकता–उनके रिश्ते में तन नहीं रहे थे, सिर्फ मन था, जिसे धड़कते हुए, कुछ धरती ने

सुना, कुछ आकाश ने...

मेरा और साहिर का रिश्ता भी कुछ इसी रोशनी में पहचाना जा सकता है–जिसके लम्बे बरसों में कभी तन नहीं रहा था–सिर्फ मन था–जो नज़्मों में धड़कता रहा...

एक वाकया याद आता है – 1996 में जब मैं पहली बार यास्नाया पोल्याना गई थी, रूस की उस टाल्स्टाय स्टेट में, और वहां जो खामोशी का गीत सुना, उसे हरफ भी नहीं दिया जा सकता। टाल्स्टाय के बाईस हजार किताबों वाले कमरे में मैं भी खामोश बैठी रही, और वे किताबें भी। फिर जब साथ वाले छोटे–से कमरे में गई, जो कभी उनका सोने वाला कमरा था, वहां एक दीवार पर वह सफेद कमीज़ टंगी हुई थी, जो टाल्स्टाय ने आखिरी दिनों में पहनी थी। और इतने में खिड़की से हवा का एक झोंका आया, वह कमीज हिल गई, और उसकी एक आस्तीन मुझे आहिस्ता से छू गई...एक कम्पन–सा मेरे सारे बदन में उतर गया, लगा, जैसे टाल्स्टाय ने एक हाथ आगे बढ़ा कर –मेरे कंधे को छू लिया हो...और फिर जहां जंगल में उन्हें दफ़नाया गया था, वहां मैं बहुत देर तक बैठी रही। वहां पेड़ों के पत्ते बरस रहे थे...और मैं एक पत्ता उठाकर अपने साथ ले आई, जो आज तक मेरी अकीदत को संभाले हुए–मेरे पास पड़ा है...

इसी तरह कई बार होता रहा–जब खामोश से अकेले में बैठे हुए साहिर को एक रूमाल की जरूरत पड़ी, मैंने उसे नया रूमाल देते हुए उसके उस मैले–से रूमाल को संभाल लिया, जो उसने हाथों से छोड़ दिया था...

नज़्में तो बहुत लिखीं, पर छोटी–छोटी सब बातों को संभालने के लिए – एक कहानी भी लिखी थी, जिसे नाम दिया था–‘यह कहानी नहीं’...यह कहानी थी...



यह कहानी नहीं

पत्थर और चूना बहुत था, लेकिन अगर थोड़ी–सी जगह पर दीवार की तरह उभर कर खड़ा हो जाता, तो घर की दीवारें बन सकता था पर बना नहीं। वह धरती पर फैल गया, सड़कों की तरह, और वे दोनों तमाम उम्र उन सड़कों पर चलते रहे...

सड़कें एक दूसरे के पहलू से भी फटती हैं, एक दूसरे के शरीर को चीरकर भी गुज़रती हैं, एक–दूसरे से हाथ छुड़ाकर गुम भी हो जाती हैं, और एक दूसरे के गले लगकर एक–दूसरे में लीन भी हो जाती हैं। वे एक–दूसरे से मिलते रहे, पर सिर्फ तब, जब कभी–कभार उनके पैरों के नीचे बिछी हुई सड़कें एक–दूसरे से आकर मिल जाती थीं।

घड़ी–पल के लिए शायद सड़कें भी चौंककर रुक जाती थीं, और उनके पैर भी...

और तब शायद दोनों को उस घर का ध्यान आ जाता था जो बना नहीं था...

बन सकता था, फिर क्यों नहीं बना? वे दोनों हैरान–से होकर पांवों के नीचे की जमीन को ऐसे देखते थे जैसे यह बात उस जमीन से पूछ रहे हों...

और फिर वे कितनी देर ज़मीन की ओर ऐसे देखने लगते मानों वे अपनी नज़र से ज़मीन में उस घर की नींवें खोद देंगे...

और कई बाद सचमुच वहां जादू का एक घर उभरकर खड़ा हो जाता और वे दोनों ऐसे सहज हो जाते मानो बरसों से उस घर में रह रहे हों...

यह उनकी भरपूर जवानी के दिनों की बात नहीं, अब की बात है, ठण्डी उम्र की बात, कि अ एक सरकारी मीटिंग के लिए स के शहर गई। अ को भी वक्त ने स जितना सरकारी ओहदा दिया है, और बराबर की हैसियत के लोग जब मीटिंग से उठे, सरकारी दफ्तर ने बाहर के शहरों से आने वालों के लिए वापसी टिकट तैयार रखे हुए थे, स ने आगे बढ़कर अ का टिकट ले लिया, और बाहर आकर, अ से अपनी गाड़ी में बैठने के लिए कहा।

पूछा– "सामान कहां है?"

"होटल में!"

स ने ड्राइवर से पहले होटल और फिर वापस घर चलने के लिए कहा।

अ ने आपत्ति नहीं की, पर तर्क के तौर पर कहा–"प्लेन में सिर्फ दो घंटे बाकी हैं, होटल होकर मुश्किल से एयरपोर्ट पहुंचूंगी।"

"प्लेन कल भी जाएगा, परसों भी, रोज़ जाएगा।" स ने सिर्फ इतना कहा, फिर रास्ते कुछ नहीं कहा।

होटल से सूटकेस लेकर गाड़ी में रख लिया, तो एक बार अ ने फिर कहा–"वक्त थोड़ा है, प्लेन मिस हो जायेगा।"

स ने जवाब दिया–"घर पर मां इन्तजार कर रही होगी।"

अ सोचती रही कि शायद स ने मां को इस मीटिंग का दिन बताया हुआ था, पर वही समझ नहीं सकी–क्यों बताया था?

अ कभी–कभी मन से यह 'क्यों' पूछ लेती थी, पर जवाब का इन्तजार नहीं करती थी। वह जानती थी–मन के पास कोई जवाब नहीं था। वह चुप बैठी शीशे में से बाहर शहर की इमारतों को देखती रही...

कुछ देर बाद इमारतों का सिलसिला टूट गया। शहर से दूर बाहर की आबादी आ

गई, और पाम के बड़े–बड़े पेड़ों की कतारें शुरू हो गई...

समुद्र शायद पास ही था, अ के सांस नमकीन–से हो गए। उसे लगा–पाम के पत्तों की तरह उसके हाथों में कम्पन आ गया था – शायद स का घर भी अब पास था...

पेड़ों–पत्तों में लिपटी हुई–सी एक कॉटेज के पास पहुंचकर गाड़ी खड़ी हो गई। अ भी उतरी पर काटेज के भीतर जाते हुए एक पल के लिए बाहर केले के पेड़ के पास खड़ी हो गई। जी किया–अपने कांपते हुए हाथों को यहां बाहर केले के पत्तों के बीच में रख दे। वह स के साथ भीतर कॉटेज में जा सकती थी, पर हाथों की वहां जरूरत नहीं थी–इन हाथों से न वह अब स को कुछ दे सकती थी, न स से कुछ ले सकती थी...

मां ने शायद गाड़ी की आवाज़ सुन ली थी, बाहर आ गई। उन्होंने हमेशा की तरह अ का माथा चूमा और कहा–"आओ बेटी!"

इस बार अ बहुत दिनों बाद मां से मिली थी, पर मां ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए–जैसे सिर पर बरसों का बोझ उतार दिया हो–और उसे भीतर ले जाकर बिठाते हुए उससे पूछा–"क्या पियोगी, बेटी?"

स भी अब तक भीतर आ गया था, मां से कहने लगा–"पहले चाय बनवाओ, फिर खाना!"

अ ने देखा–डाइवर गाड़ी से उसका सूटकेस अन्दर ला रहा था। उसने स की ओर देखा, कहा–"बहुत थोड़ा वक्त है, मुश्किल से एयरपोर्ट पहुंचूंगी।"

स ने उससे नहीं, ड्राइवर से कहा–"कल सवेरे जाकर परसों का टिकट ले आना।" और मां से कहा–"तुम कहती थीं कि मेरे कुछ दोस्तों को खाने पर बुलाना है, कल बुला लो।"

अ ने स की जेब की ओर देखा जिसमें उसका वापसी का टिकट पड़ा हुआ था, कहा–"पर यह टिकट बरबाद जाएगा...।"

मां रसोई की तरफ जाते हुए खड़ी हो गई और अ के कन्धे पर अपना हाथ रखकर कहने लगी–"टिकट का क्या है, बेटी! इतना कह रहा है, रुक जाओ।"

पर क्यों? अ के मन में आया, पर कहा कुछ नहीं। कुर्सी से उठकर कमरे के आगे बरामदे में जाकर खड़ी हो गई। सामने दूर तक पाम के ऊंचे–पेड़ थे। समुद्र परे था। उसकी आवाज़ सुनाई दे रही थी। अ को लगा–सिर्फ आज का 'क्यों' नहीं, उसकी जिन्दगी के कितने ही 'क्यों' उसके मन में समुद्र के तट पर इन पामों के पेड़ों की तरह उगे हुए हैं, और उनके पत्ते अनेक वर्षों से हवा में कांप रह हैं।

अ ने घर के मेहमान की तरह चाय पी, रात को खाना खाया, और घर का गुसलखाना पूछकर रात को सोने के समय पहनने वाले कपड़े बदले। घर में एक लम्बी बैठक थी, ड्राइंग–डाइनिंग, और दो कमरे थे–एक स का, एक मां का। मां ने जिद करके अपना कमरा अ को दे दिया और स्वय बैठक में सो गई।

अ सोने वाले कमरे में चली गई, पर कितनी दर झिझकी हुई–सी खड़ी रही। सोचती रही–मैं बैठक में एक–दो रातें मुसाफिरों की तरह ही रह लेती, ठीक था, यह कमरा मां का है, मां को ही रहना चाहिए था...

सोने वाले कमरे के पलंग में, पर्दा में और अलमारी में एक घरेलू–सी बू–बास होती है, अ ने इसका एक घूंट–सा भरा। पर फिर अपना सांस रोक लिया मानो अपनी ही सांसों से डर रही हो...

बराबर का कमरा स का था। कोई आवाज़ नहीं थी। घड़ी पहले स ने सिरदर्द की

शिकायत की थी, नींद की गोली खायी थी, अब तक शायद सो गया था। पर बराबरवाले कमरों की भी अपनी एक बू–बास होती है, अ ने एक बार उसका भी घूंट पीना चाहा, पर सांस रुका रहा।

फिर अ का ध्यान अलमारी के पास फर्श पर पड़े हुए अपने सूटकेस की ओर गया और उसे हंसी–सी आ गई–यह देखो मेरा सूटकेस, मुझे सारी रात मेरी मुसाफिरी की याद दिलाता रहेगा...

और वह सूटकेस की ओर देखते हुए थकी हुई–सी, तकिये पर सिर रखकर लेट गई...

न जाने कब नींद आ गई। सोकर जागी तो खासा दिन चढ़ा हुआ था। बैठक में रात को होनेवाली दावत की हलचल थी।

एक बार तो अ आंखें झपककर रह गई–बैठक के सामने स खड़ा था–चारखाने का नीले रंग का तहमद पहने हुए। अ ने उसे कभी रात के सोने के समय के कपड़ों में नहीं देखा था। हमेशा दिन में ही देखा था–किसी सड़क पर, सड़क के किनारे कैफे में, होटल में, या किसी सरकारी मीटिंग में–उसकी यह पहचान नयी–सी लगी, आखों में अटक–सी गई...

अ ने भी इस समय नाइट सूट पहना हुआ था, पर अ ने बैठक में आने से पहले उस पर ध्यान नहीं दिया, अब ध्यान आया तो अपना–आप ही अजीब लगने लगा–साधारण स असाधारण–सा होता हुआ...

बैठक में खड़ा हुआ स, अ को आते हुए देखकर कहने लगा–"ये दो सोफे हैं, इन्हें लम्बाई के रुख रख लें। बीच में जगह खुली हो जाएगी।"

अ ने सोफों को पकड़वाया, छोटी मेज़ों को उठाकर कुर्सियों के बीच में रखा। फिर मां ने चौके से आवाज़ दी तो अ ने चाय लाकर मेज पर रख दी।

चाय पीकर स ने उससे कहा–"चलो, जिन लोगों को बुलाया है, उनके घर जाकर कह आएं और लौटते हुए कुछ फल लेते आएं।"

दोनों ने पुराने परिचित दोस्तों के घर जाकर दस्तक दी, सन्देश दिए, रास्ते से चीज़ खरीदी, फिर वापस आकर दोपहर का खाना खाया, और फिर बैठक को फूलों से सजाने में लग गए।

दोनों ने रास्ते में साधारण–सी बातें की थीं–फल कौन से लेने हैं? पान लेने हैं या नहीं? ड्रिंक्स के साथ कबाब कितने ले लें? फलां का घर रास्ते में पड़ता है, उसे भी बुला लें? – और यह बातें वे नहीं थीं जो सात बरस बाद मिलने वाले करते हैं।

अ को सबेरे दोस्तों के घर पर पहली–दूसरी दस्तक देते समय ही सिर्फ थोड़ी सी परेशानी महसूस हुई थी। वे भले ही स के दोस्त थे, पर एक लम्बे समय से अ को जानते थे, दरवाजा खोलने पर बाहर उसे स के साथ देखते तो हैरान–से हो कह उठते–"आप!"

पर वे जब अकेले गाड़ी में बैठते, तो स हंस देता–"देखा, कितना हैरान हो गया, उससे बोला भी नहीं जा रहा था।"

और फिर एक–दो बार के बाद दोस्तों की हैरानी भी उनकी साधारण बातों में शामिल हो गई। स की तरह अ भी सहज मन से हंसने लगी।

शाम के समय स ने छाती में दर्द की शिकायत की। मां ने कटोरी में ब्राण्डी डाल दी, और अ से कहा–"लो, बेटी! यह ब्राण्डी इसकी छाती पर मल दो।"

इस समय तक शायद इतना कुछ सहज हो चुका था, अ ने स की कमीज के ऊपरवाले बटन खोले और हाथ से छाती पर ब्राण्डी मलने लगी।

बाहर पाम के पेड़ों के पत्ते और केलों के पत्ते शायद अभी भी कांप रहे थे, पर स के हाथ में कम्पन नहीं था। एक दोस्त समय से पहले आ गया था, अ ने ब्राण्डी में भीगे हुए हाथों से उसका स्वागत करते हुए उसे नमस्कार भी किया, और फिर कटोरी में हाथ डुबोकर बाकी ब्राण्डी को उसकी गर्दन पर मल दिया – कंधों तक।

धीरे–धीरे कमरा मेहमानों से भर गया। अ फ्रिज से बरफ निकालती रही और सादा पानी भर–भर फ्रिज में रखती रही। बीच–बीच में रसोई की तरफ जाती, ठण्डे कबाब फिर से गर्म करके ले आती। सिर्फ एक बार जब स ने अ के कान के पास होकर कहा–"तीन चार लोग तो वे भी आ गए हैं, जिन्हें बुलाया नहीं था। जरूर किसी दोस्त ने उनसे भी कहा होगा, तुम्हें देखने के लिए आ गए हैं"– तो पल भर के लिए अ की स्वाभाविकता टूटी, पर फिर जब स ने उससे कुछ गिलास धोने के लिए कहा तो वह उसी तरह सहज मन हो गई।

महफिल गर्म हुई, रात ठण्डी हुई और लगभग आधी रात के समय सब चले गये। अ को सोनेवाले कमरे में अपने सूटकेस में से रात के कपड़े निकालकर पहनते हुए लगा कि–कि सड़कों पर बना हुआ जादू का घर अब कहीं भी नहीं था...

यह जादू का घर उसने कई बार देखा था–बनते हुए भी, मिटते हुए भी, इसलिए वह हैरान नहीं थी। सिर्फ थकी–थकी–सी तकिये पर सिर रखकर सोचने लगी–कब की बात है...शायद पचीस बरस हो गए–नहीं, तीस बरस...जब पहली बार वे जिन्दगी की सड़कों पर मिले थे–अ किस सड़क से आई थी, स कौन सी सड़क से आया था, दोनों पूछना भूल गए थे, और बताना भी। वे निगाह नीची किए जमीन में नीवें खोदते रहे, और फिर यहां जादू का एक घर बनकर खड़ा हो गया, और वे सहज मन से सारे दिन उस घर में रहते रहे।

फिर जब दोनों की सड़कों ने उन्हें आवाज़ें दीं, वे अपनी–अपनी सड़क की ओर जाते हुए चौंककर खड़े हो गए। देखा–दोनों सड़कों के बीच एक गहरी खाई थी। स कितनी ही देर उस खाई की ओर देखता रहा, जैसे अ से पूछ रहा हो, कि इस खाई को तुम किस तरह पार करोगी? अ ने कहा कुछ नहीं था, पर स के हाथ की ओर देखा था, जैसे कह रही हो–तुम हाथ पकड़कर पार करा लो, मैं मज़हब की इस खाई को पार कर जाऊंगी।

फिर स का ध्यान ऊपर की ओर गया था, अ के हाथ की ओर। अ की उंगली में हीरे की अंगूठी चमक रही थी। स कितनी देर तक देखता रहा, जैसे पूछ रहा हो–तुम्हारी उंगली पर यह जो कानून का धागा लिपटा हुआ है, मैं इसका क्या करूंगा। अ ने अपनी उंगली की ओर देखा था और धीरे–से हंस पड़ी थी, जैसे कह रही हो–तुम एक बार कहो, मैं कानून का यह धागा नाखूनों से खोल दूंगी। नाखूनों से नहीं खुलेगा तो दांतों से खोल दूंगी।

पर स चुप रहा था, और अ भी चुप खड़ी रह गई थी। पर जैसे ही सड़कें एक ही जगह आकर खड़ी हुई भी चलती रहती हैं, वे भी एक जगह पर खड़े हुए चलते रहे...

फिर एक दिन स के शहर से आनेवाली सड़क अ के शहर आ गई थी, और अ ने स की आवाज़ सुनकर अपने एक बरस के बच्चे को उठाया था और बाहर सड़क पर उसके पास आकर खड़ी हो गई थी। स ने धीरे से हाथ आगे करके सोये हुए बच्चे को अ से ले लिया था और अपने कन्धे से लगा लिया था और फिर वे सारे दिन उस शहर की सड़कों

पर चलते रहे...

वे उनकी भरपूर जवानी के दिन थे–उनके लिए न धूप थी न ठण्ड। और फिर जब चाय पीने के लिए वे एक कैफे में गए तो बैरे ने एक मर्द, एक औरत और एक बच्चे को देखकर एक अलग कोने की कुर्सियां पोंछ दी थीं। और कैफे के उस अलग कोने में एक जादू का घर बनकर खड़ा हो गया था...

और एक बार...अचानक चलती हुई रेलगाड़ी में मिलाप हो गया था। स भी था, मां भी और स का एक दोस्त भी। अ की सीट बहुत दूर थी, पर स के दोस्त ने उससे अपनी सीट बदल ली थी और उसका सूटकेस उठाकर स के सूटकेस के पास रख दिया था। गाड़ी में दिन के समय ठण्ड नहीं थी, पर रात ठण्डी थी। मां ने दोनों को एक कम्बल दे दिया था, आधा स के लिए, आधा अ के लिए। और चलती हुई गाड़ी में उस साझे के कम्बल के किनारे जादू के घर की दीवारें बन गई थीं...

जादू की दीवारें बनती थीं, मिटती थीं, और आखिर उनके बीच खण्डहरों की–सी खामोशी का एक ढेर लग जाता था...

स को कोई बन्धन नहीं था, अ को था। पर वह तोड़ सकती थी। फिर यह क्या था कि वे तमाम उम्र सड़कों पर चलते रहे...

अब तो उम्र बीत गई–अ ने उम्र के तपते दिनों के बारे में भी सोचा और अब के ठण्डे दिनों के बारे में भी। लगा–सब दिन, सब बरस पाम के पत्तों की तरह हवा में खड़े कांप रहे थे।

बहुत दिन हुए, एक बार अ ने बरसों की खामोशी को तोड़कर पूछा था–"तुम बोलते क्यों नहीं? कुछ भी नहीं कहते। कुछ तो कहो!"

पर स हंस दिया था, "यहां रोशनी बहुत है, हर जगह रोशनी होती है, मुझसे बोला नहीं जाता।"

और अ का जी किया था – वह एक बार सूरज को पकड़कर बुझा दे...

सड़कों पर सिर्फ दिन चढ़ते हैं, रातें तो घरों में होती हैं...पर घर कोई था नहीं, इसलिए रात भी कहीं नहीं थी–उनके पास सिर्फ सड़कें थीं, और सूरज था, और स सूरज की रोशनी में बोलता नहीं था।

एक बार बोला था–

वह चुप–सा बैठा हुआ था–"क्या सोच रहे हो?" तो वह बोला–"सोच रहा हूं, लड़कियों से फ्लर्ट करूं और तुम्हें दुखी करूं।"

पर इस तरह अ दुखी नही, सुखी हो जाती। इसलिए अ भी हंसने लगी थी, स भी।

और फिर एक लम्बी खामोशी...



कई बार अ के जी में आता था–हाथ आगे बढ़ाकर स को उसकी खामोशी में से बाहर ले आए, वहां तक जहां तक दिल का दर्द है। पर वह अपने हाथों को सिर्फ देखती रहती थी, उसने हाथों से कभी कुछ नहीं कहा था।

एक बार स ने कहा था, "चलो, चीन चलें!"

"चीन?"

"जायेंगे, पर आयेंगे नहीं!"

"पर चीन क्यों?"

यह 'क्यों' भी शायद पाम के पेड़ के समान था जिसके पत्ते हवा में कांपने लगे ...इस समय अ ने तकिये पर सिर रखा हुआ था, पर नींद नहीं आ रही थी। स बराबर के कमरे में सोया हुआ था, शायद नींद की गोली खाकर।

अ को न अपने जागने पर गुस्सा आया, न स की नींद पर। वह सिर्फ यह सोच रही थी–कि वे सड़कों पर चलते हुए जब कभी मिल जाते हैं तो वहां घड़ी पहर के लिए एक जादू का घर क्यों बन कर खड़ा हो जाता है?

अ को हंसी–सी आ गई–तपती हुई जवानी के समय तो ऐसा होता था, ठीक है, लेकिन अब क्यों होता है? आज क्यों हुआ?

यह न जाने क्या था, जो उम्र की पकड़ में नहीं आ रहा था...

बाकी रात न जाने कब बीत गई–अब दरवाजे पर धीरे–से खटका हुआ, ड्राइवर कह रहा था कि एयरपोर्ट जाने का समय हो गया है...

अ ने साड़ी पहनी, सूटकेस उठाया, स भी जागकर अपने कमरे से आ गया, और वे दोनों उस दरवाजे की ओर बढ़े जो बाहर सड़क की ओर खुलता था...

ड्राइवर ने अ के हाथ से सूटकेस ले लिया था, अ को अपने हाथ और खाली–खाली से लगे। वह दहलीज के पास अटक–सी गई, फिर जल्दी से अन्दर गई और बैठक में सोयी हुई मां को प्रणाम करके बाहर आ गई...

फिर एयरपोर्ट वाली सड़क शुरू हो गई, खत्म होने को भी आ गई, पर स भी चुप था, अ भी

अचानक स ने कहा–"तुम कुछ कहने जा रही थीं?"

"नहीं।"

और वह चुप हो गया।

फिर अ को लगा –शायद स को भी बहुत कुछ कहने को था, बहुत कुछ सुनने को, पर बहुत देर हो गई थी, और अब सब शब्द जमीन में गढ़ गये थे– पाम के पेड़ बन गए थे और मन के समुद्र के पास लगे हुए उन पेड़ों के पत्ते शायद तब तक कांपते रहेंगे जब तक हवा चलेगी...

एयरपोर्ट आ गया और पांवों के नीचे स के शहर की सड़क टूट गई...

अब सामने एक नई सड़क थी–जो हवा में से गुज़रकर अ के शहर की एक सड़क से जा मिलने को थी...

और वहां जहां दो सड़कें एक दूसरे के पहलू से निकलती हैं, स ने धीरे से अ को अपने कन्धे से लगा लिया। और फिर वे दोनों कांपते हुए, पावों के नीचे की जमीन को इस तरह देखने लगे, जैसे उन्हें उस घर का ध्यान आ गया हो जो नहीं बना था...

पूर्वजन्म का साया–2

एक और साया था–जो सपनों में उतरने लगा, कुछ पहचान नहीं सकती थी कि वह किसका साया है। दिखाई देता–एक वीराने में एक मकान है, अकेला, आस–पास कहीं कोई बस्ती नहीं, और उस दोमंजिला मकान की एक खिड़की से – पीछे की तरफ़ दूर तक एक जंगल दिखाई देता है, और एक बहती हुई नदी – दिखाई देता, उस खिड़की में कोई खड़ा है, कंधों पर एक गर्म चादर को लपेट कर। मुझे सिर्फ उसकी पीठ दिखाई देती थी–और कभी–कभी देखती–कि वह खिड़की के पास रखे एक मेज़ पर एक बड़ा–सा कैनवस लिए–कोई चित्र बना रहा होता–मुझे न चित्र दिखाई देता न बनाने वाले की सूरत, सिर्फ दाई तरफ़ का उसका कंधा और हाथ दिखाई देता–यह सपनों का साया मैं करीब बीस बरस देखती रही, हर दो चार दिन के बाद–

फिर एक साधारण–सी घटना हुई, मेरी एक किताब का कवर डिज़ाइन बनाने के लिए किसी ने इमरोज़ का नाम लिया, कहा – बंबई से एक कलाकार आया है – जो बहुत पतली–सी लकीरों में जादू बुन देता है, यह लफ्ज़ दिल्ली के चित्रकार सेठी ने कहे थे, और देविन्दर उसके बताने पर पहली बार इमरोज़ को मेरे पास लाए थे–

उनका घर पास में ही था, इसलिए किताबों के सिलसिले में कई बार उनका आना होता रहा। अचानक इमरोज़ को गुरुदत्त का बंबई से खत आया कि वे उन्हें अपने पास बुलाना चाहते हैं, अपनी फिल्मों का काम करवाने के लिए – यह ख़त इमरोज़ को मासिक पत्र 'शमा' के दफ्तर में काम करते हुए, मिला और दुपहर को ही मुझे वह ख़त दिखाने के लिए आए।

मैने वह ख़त पढ़ा, इमरोज़ को उनके काम के लिए कुछ मुबारक जैसा कहा, फिर आगे जो कहा – वह सचमुच मैंने नहीं कहा था – कोई तकदीर थी जो मेरे होठों पर आकर, मेरे आंसुओं में भीगती रही – एक कहानी कहने लगी–

मेरी और इमरोज़ की उस वाकफ़ियत में सिर्फ किताबों की बात होती थी कि मैंने कौन सी नई किताब पढ़ी है, या इमरोज ने कौन सी नई फिल्म देखी है – उस दिन भी उसी आदत के कहने पर मैंने एक कहानी कही, जो उन दिनों पढ़े अंग्रेजी के एक नावल की कहानी थी – कि एक शायर था, जिसे खुदा ने बहुत कुछ दिया था, पर शाकल–सूरत नहीं दी थी, उसने एक बहुत खूबसूरत लड़की को देखा, तड़प कर नज़्में लिखने लगा लेकिन उसे कुछ कह नहीं पाया। उसका एक दोस्त था, बहुत खूबसूरत और अमीर, लेकिन कुदरत ने उसे सिर्फ हुस्न और दौलत दी थी, और कुछ नहीं – वही दोस्त उस सुंदरी से मिलने लगा और उसके पास जाते हुए, अपने दोस्त से शायरी के कुछ टुकड़े, और बातचीत के कुछ अलफ़ाज सीख लेता – और मिलने को चल देता। आख़िर उस

लड़की ने उससे विवाह कर लिया।

अचानक जंग का एलान हुआ – उन दोनों को जंग में जाना पड़ा, जहां –महाज़ पर लड़ते हुए, जो खत वह अपनी बीवी को लिखता, वह सब शायर दोस्त से लिखवा लेता–

जंग में एक दिन वह खूबसूरत आदमी मारा गया, और शायर दोस्त ज़ख़्मी हालत में वापिस भेज दिया गया, जहां अस्पताल में वह सुंदरी आई – अपने खाविंद के दोस्त से अपने खाविंद की बातें पूछने के लिए–

वे बहुत खूबसूरत ख़त उस सुंदरी ने संभाल कर रखे हुए थे, जो एक दिन अस्पताल में ले आई – उसके दोस्त को दिखाने के लिए, और कहने लगी – देखो! उसने मुझे ख़तों में भी क्या–क्या दिया – तुम पढ़ो। मैं सुनती हूँ – मुझे लगेगा, जैसे मैं उसी की आवाज़ में सुन रही हूँ–

वह शायर ख़त पड़ता रहा, इतने मग्न मन से कि अंधेरा उतर आया, वे दोनों बत्ती जलाना भी भूल गए, लेकिन वह अंधेरे में भी पढ़ता रहा–

अचानक उस सुंदरी को ख़्याल आया – कागज़ पर हरफ़ तो दिखाई नहीं देते, वह कैसे पड़ रहा है? – और वह वक्त था, जब उसने शायर के दिल का मर्म पाया, जान गई कि ये सारे ख़त उसी के लिखे और लिखवाये हुए हैं – शायर मौत के बिस्तर पर था, और जब आख़िरी सांस भी टूट गई, तो उस सुंदरी ने उसके होंठ चूम लिए – बोली – आई लव्ड वन मैन बट लॉस्ट हिम ट्वाइस–

इस कहानी में मैं नहीं, मेरी तकदीर बोल उठी थी – लग रहा था–जिस बंबई शहर ने मेरा साहिर छीन लिया, वही शहर अब मुझसे इमरोज़ को छीनने के लिए उसे बुला रहा है–लेकिन–ये सब न होंठों पर आ सकता था, न आया।

इमरोज़ बंबई चले गए। गुरुदत्त ने नौकरी, कमरा, सब पेश किया, पर नहीं जानती–तकदीर ने इमरोज़ से कुछ हौले से क्या कहा, कि ठीक तीन दिन के बाद इमरोज़ ने मुझे बंबई से फ़ोन किया–मैं दिल्ली आ रहा हूँ –

यह तकदीर का कोई रहस्य था, जो उसने अपनी उंगलियों से खोल दिया, और मैं जान पाई कि बीस सालों से जो एक साया–सा दिखाई देता रहा–वह इमरोज़ का साया था–जाने किस जन्म का, और अब एक हकीकत बनकर–धरती पर उतर आया है–

इमरोज़ जिंदगी में आए–एक हकीकत बन कर, और साहिर से वह रिश्ता हमेशा बना रहा–उसकी आखिरी सांस तक–

याद आता है–बरसों पहले एक बार जब साहिर दिल्ली आए, मुझे और इमरोज़ को अपने पास बुलाया–वहाँ, जिस होटल में वे ठहरे थे। हम लोग करीब दो घण्टे वहाँ रहे। साहिर ने विस्की मंगवाई थी–और मेज़ पर तीन गिलास पड़े थे, जब रात गहरी होने लगी, तो हम लोग वापस आए थे। फिर रात करीब आधी होने लगी थी–जब मुझे साहिर का फोन आया–अब भी तीन गिलास मेज़ पर पड़े हैं, और मैं तीनों गिलासों से बारी–बारी से पी रहा हूँ, और लिख रहा हूँ–मेरे साथी ख़ाली जाम–

यह सिर्फ कुदरत जानती है कि कोई धागा था, पता नहीं किस जन्म का, जो इस जन्म में भी–हम तीनों के गिर्द लिपटा रहा–

1990 में जब जालंधर दूरदर्शन ने मुझ पर फिल्म बनाई, तो मुझे अपने–साहिर से और इमरोज़ से जो रिश्ता था, उसका कोई जिक्र करने को कहा। उस वक्त मैंने कहा–

दुनिया में रिश्ता एक ही होता है–तड़प का, विरह की हिचकी का, और शहनाई का, जो विरह की हिचकी में भी सुनाई देती है–यही रिश्ता साहिर से भी था, इमरोज़ से

भी है – यह साहिर की मुहब्बत थी, जब लिखा –

फिर तुम्हें याद किया, हमने आग को चूम लिया
इश्क ज़हर का प्याला सही, मैने एक घूंट फिर से मांग लिया,

और इमरोज़ की सूरत में–अहसास की जो इन्तहा देखी, एक दीवानगी का आलम था, जब कहा–

कलम ने आज गीतों का काफ़िया तोड़ दिया
मेरा इश्क यह किस मुकाम पर आया है।
उठो! अपनी गागर–पानी की कटोरी दे दो
मैं राहों के हादसे, उस पानी से धो लूंगी–

राहों के हादसे – आकाश गंगा का पानी ही धो सकता है–एक दर्द था–जिसने मन की धरती को ज़रखेज़ किया और एक दीवानगी–उसकी बीज बन गई मन की हरियाली बन गई –

एक प्राचीन घटना का साया

कविता और कवि के मस्तक पर कर्ण और कुन्ती की तकदीर कब लिखी गई थी, यह मैं नहीं जानती, लेकिन उनके मस्तक की लकीरों को मैंने अपनी कांपती उंगलियों से छूकर देखा है, और उनकी बौराई हुई सांस मैंने अपनी सांसों में से सुनी है...

इसलिए कुन्ती की बात करते समय मैं इतिहास के कुछ वरक देख रही हूं–

सिद्धि एक अलौकिक शक्ति होती है, जिसका अर्थ बुद्धि भी होता है, और मुक्ति भी। उसके आठ पहलू अष्टसिद्धि हो जाते हैं। एक अणिमा जो बहुत सूक्ष्म हो जाए। एक महिमा जो विस्तारमय हो जाए। एक गरिमा जो बहुत भारी हो जाए। एक लघिमा जो बहुत हलकी हो जाए। एक प्राप्ति, जो मनचाही वस्तु हासिल कर ले। एक प्राकाम्य जो सबके मन की जान ले। एक दीशिता जो सबकी प्रेरणा बन जाए। और एक वशिता जो सबको वश में कर ले...

सिद्धि ने जिस सुन्दरी की सूरत में जन्म लिया, उसका नाम पृथा था। वह मथुरा के राजा शूरसेन की पुत्री थी। राजा कुंतिभोज को औलाद नहीं थी, इसलिए उसने राजा शूरसेन से उसकी पुत्री मांग ली। और इसीलिए पृथा का नाम कुन्ती हुआ, अपने दूसरे पिता के नाम पर।'

यह गाथा कुन्ती के जन्म की है, पर इस गाथा ने कवि और कविता के जन्म का सारा ब्यौरा अपनी छाती में संभाल लिया है...

सिद्धि का आकारमय होना कविता का जन्म है, जिससे पैदा होनेवाली कविता के सारे वसफ़ अष्टसिद्धि के अर्थों में समाए हुए हैं...



राजा शूरसेन सदियों का ज्ञान है, जिससे उसकी पुत्री की सूरत में, उसका कुछ अंश मांग लेना, उस कुन्तिभोज की तलब है, जिससे एक रवायत को चलना है, एक तकदीर को चलना है, और तलब के वंश को चलना है...

कुन्ती का पालन एक मासूम तैयारी है, जिसके माध्यम से कवि होने की किस्मत को जागृत होना है...कुन्ती ऋषि का स्वागत करती है, तो दुर्वासा का दिया हुआ वरदान, उसके मस्तक की पहली रेखा खींच देता है...

दुर्वासा ऋषि कुन्ती को एक मन्त्र देते हैं, एक कला, जिससे वह किसी भी देवता को अपने पास धरती पर बुला सकती है...

देवता नाम तत्व का होता है। खलाई शक्तियों के तत्व देवता कहे जाते हैं। जिस सिद्धि ने कुन्ती का जन्म लिया, उसके मन में ब्रह्माणड के शक्ति–कणों के लिए कशिश पैदा हो जाना एक बहुत मासूम घटना थी, लेकिन इसी घटना ने कुन्ती की तकदीर लिख दी, कवि की तकदीर लिख दी, जिसे कर्ण जैसी कविता को जन्म देना है...

सूर्य देवता के मिलन से जब एक शक्ति–कण कुन्ती की कोख में आ गया, तो उसकी हैरानी एक ऐसीं हैरानी थी, जिसे सिर्फ एक कवि जान सकता है, जिसकी आत्मा में किसी तखलीक का बीज उगने लगता है...

कुन्ती की रातें एक कवि की तरह सितारों को हाथ से छू सकती थीं, लेकिन उसके दिन समाज की दीवारों से अपने बदन को छिपाते थे...

कर्ण के जन्म के समय कुन्ती की जो चीख निकली थी, और जो चीख उसने अपने होठों में पी ली थी, उस चीख ने क्वांरी मां की जो तकदीर उसके मस्तक पर अंकित कर दी, वह सारी जिंदगी तकदीर की उस लकीर को हैरानी से भी देखती रही और सहमकर

भी और कवि ने अपने मस्तक की रेखा के सामने अपना मस्तक नवा दिया...

अचेत मन ने युग–युग के अहसास अपने में लिपटाए होते हैं पर किसी गांठ को वह कब अपने पोरों से खोलकर रख देता है, इसका घड़ी–पल कोई नहीं जानता, एक बार कुन्ती की तकदीर का एक बड़ा सूक्ष्म–सा ब्यौरा मेरी कविता में उतर आया था :

कविता, कभी कागज़ को देखे,
और कभी नज़र को चुरा ले
जैसे कागज़ पराया मर्द होता है...

यहां कवि कुन्ती के नक्शों में समाया हुआ है। कुन्ती को कोख में लिये हुए कर्ण अपना लगता है। और अन्तर्मन से उठता हुआ जो कविता का अहसास है, वह कवि का अपना है। पर उस अहसास को जिस कागज के हवाले करना है, वह कागज पराया है, कुन्ती के आसपास की दुनिया की तरह, जो कर्ण के लिए बिलकुल बेगाना है।

कुन्ती जानती है कि उसका समाज उसके कर्ण का समाज नहीं हो सकता। कवि जानता है कि उसके अन्तर्मन का एक टुकड़ा, उससे टूटकर, बिलकुल गैर आंखों के हवाले हो जाएगा...

दुर्वासा का जिस तरह कां वरदान कुन्ती के पास है, उसी तरह का वरदान कवि के पास होता है, और किसी शक्ति–कण का समागम दोनों की तक़दीर बन जाता है...

एक क्वाँरी जब करवा का व्रत रखती है और उस रात उसे सपना–सा आता है – अचानक कोई मर्द–अंग उसे छू जाता है और सपने में भी उसका बदन काँप जाता है...

कविता का बीज किसी के भीतर अचानक उसी तरह पनप जाता है, जिस तरह सूर्य ने अपनी किरण का टुकड़ा कुन्ती की कोख में रख दिया था :

वह आग का स्पर्श करती, चौंक जाती,
जाग उठती, भरे–भरे बदन को छूती
चोली के बटन खोलती
अँजुली–भर चाँदनी बदन पर छिड़कती
और बदन को सुखाते हुए–
उसका हाथ खिसक जाता है...
बदन का अँधेरा चटाई की तरह बिछता
वह औंधी–सी चटाई पर लेटती
उसके तिनके तोड़ती
और उसका अंग–अंग सुलग जाता है...
उसे लगता–
उसके बदन का अँधेरा
किसी की बाँहों में टूटना चाहता है...

अहसास की शिद्दत, एक ख़ामोशी की ग़ार से किस तरह गुज़रती है, और उसका कम्पन कैसे रगों में उतरता है, यह कविता उसी का कुछ अनुमान–सा देती है।

और फिर वक़्त आ जाता है, जब न कर्ण को कोख की ओट में रखा जा सकता है, न कविता को।

अचानक – एक कागज़ आगे सरकता है
उसके काँपते हुए हाथों को देखता है
एक अंग जलता है, एक अंग पिघलता है
उसे एक अजनबी गन्ध आती है
और उसका हाथ–
बदन में उतर आई लकीरों को छूता है...
हाथ रुकता है, बदन सिसकता है
एक लम्बी लकीर टूटती–सी लगती है...
फिर जन्म और मौत की
दोहरी–सी गन्ध में वह भीग जाती है...
सब काली और पतली लकीरें–
एक लम्बी चीख़ के कुछ टुकड़े–से दिखते हैं
ख़ामोश और हैरान वह निचुड़ी– सी खड़ी
देखती, सोचती–
शायद एक क्वाँरी का गर्भपात इसी तरह होता है...
यह कर्ण और कविता का जन्म है...

यह लफ्ज़ 'गर्भपात' जन्म के अर्थों में है, जिसमें हर कविता पूर्णता से एक कदम दूर खड़ी रह जाती है...

यह कवि के अहसास की किस्मत है, कुन्ती की भी कि वह अकेली है। उसने एक सपने की तरह सूर्य को देखा था, पर अब सपने से आई हुई जाग की तरह वह अकेली है...

दुर्वासा के जिस वरदान ने जिस समय कुन्ती की तक़दीर लिख दी थी उसी क्षण कर्ण की तक़दीर भी लिख दी थी...

कर्ण एक बहती हुई नदी के हवाले हो गया, माँ के आँचल से गिरा हुआ, सूर्य के साये से टूटा हुआ, और उसी की तरह जब कविता कागज़ पर उतर जाती है, तो पवन के हवाले हो जाती है...

ग़ैरों के होंठ हर तरफ़ हँसते हैं...

कर्ण भी अपने मस्तक की रेखाओं से कुछ पूछता है, और कविता भी...पर तक़दीर की लकीरें न कुछ सुनाती हैं, न कुछ कहती हैं, वह बस घटित होती हैं...

ऋषि लफ्ज़ का फूल सात रंगों में खिलता है। इसीलिए ऋषि सात तरह के माने गए हैं :

एक सत ऋषि, जो वेद–मन्त्रों के रचयिता थे। एक कांड ऋषि, जो वेद के किसी एक काण्ड की व्याख्या में उतर सकें। एक परम ऋषि, जो पूरी तरह उदासीन हो जाएँ। एक राज ऋषि जो राज–काज के भीतर रहकर भी ऋषि अवस्था को पा लें। एक ब्रह्म ऋषि, जो ब्रह्म ज्ञान की अवस्था तक पहुंच जाएं। एक देव ऋषि, जो देव जाति में पैदा होकर ऋषि मन को प्राप्त हो जाएं। और एक मह ऋषि जो शास्त्र भी रच सकें, और साधना विधि भी बता सकें।

दुर्वासा ऋषि, अत्रि ऋषि और अनसूया का बेटा था। और लगता है–उनके अन्तर

का फूल मह ऋषि की ज़मीन पर खिला था, जिस ज़मीन में विधि–विधान की साधना भी होती है, और शास्त्र लिखने वाली रचनात्मक शक्ति की भी।

दुर्वासा का क्रोध पूरे इतिहास में फैला हुआ है। विष्णु–पुराण में दर्ज है कि इस ऋषि ने इन्द्र को एक माला दी थी, पर इन्द्र के हाथी एरावत ने जब इस माला का निरादर कर दिया, तो दुर्वासा ने इन्द्र को श्राप दे दिया था...

कृष्ण ने दुर्वासा का प्यार से स्वागत किया था, पर रोटी के जो कण ज़मीन पर गिर गए थे, कृष्ण ने उन्हें उठाया नहीं था, इसलिए दुर्वासा ने कृष्ण को किसी शिकारी के तीर से मरने का श्राप दे दिया था...

इसी तरह कृष्ण के पुत्र सांब को स्त्री वेश पहनाकर और एक हामला की सूरत में दिखा कर जब उसके गर्भ से पैदा होने वाले बच्चे की बाबत पूछा गया, तो दुर्वासा ने एक भयानक श्राप दे दिया था कि इस गर्भ से यादव कुल को नाश करने वाला एक मूसल पैदा होगा...

और शकुन्तला जब दुष्यन्त के ध्यान में थी, उसने दुर्वासा के आगमन को देखा नहीं था, तो दुर्वासा ने श्राप दे दिया था कि जिसके कारण तूने मेरे आगमन को नहीं देखा, वह तुझे पहचानेगा नहीं...

दुर्वासा के ऐसे श्राप इतिहास में जगह–जगह दर्ज हैं, सिर्फ़ एक ही हवाला मिलता है, जब दुर्वासा ने किसी को वरदान दिया था–और वह वरदान सिर्फ़ कुन्ती को मिला था...कुन्ती, जो सिद्धि का जन्म है। और सिद्धि, जो एक शक्ति है, बुद्धि है, मुक्ति है, और कवि की आत्मा है...

किसी वरदान को धारण करने के लिए कुन्ती की काया चाहिए, कवि की काया...

दोनों के पास अपार तलब है–सूर्य के वस्ल की...

कुन्ती की तलब ने मन्त्र उच्चारण किया था, और कवि की तलब ने कविता का...

राजमहल की परम्परागत और ठण्डी जिंदगी कुन्ती के लिए नहीं थी, न समाज की परम्परावादी जिंदगी कवि के लिए होती है। इन दोनों को हज़ारों तोहमतों का दरिया सामने बहता दिखाई देता है। वे जानते हैं कि उन्हें अपने–अपने अकेलेपन का श्राप झेलना है।

यह श्राप–जो वरदान के कण–कण में समाया हुआ है...

यह वरदान उन दोनों ने पहचाना है। वे जानते हैं कि दरवेश के इस काले कम्बल में वरदान और श्राप दोनों बुने हुए हैं, लेकिन यह उनकी तलब का तकाज़ा है कि वे कह सकते हैं – ‘भाड़ में जाए तेरी चिट्टी चदरिया...’

कुन्ती ने क्या खोया और क्या पाया, यह सिर्फ कवि जानता है। वह जानता है कि किस्मत का नियन्त्रण क्या होता है :

प्राचीन समय में जो मंदिर बनाए जाते थे, वे जमीनदोज़–पानी, गंधक और चाँदी जैसी धातुओं की शक्ति को देख–परखकर बनाए जाते थे। वे शक्तियाँ उस ज़मीन को तरंगित कर देती थीं। ठीक यही विज्ञान किसी के जन्म का होता है कि पूर्वजन्म की शक्तियाँ, इस जन्म की जमीन को किस तरह तरंगित कर रही हैं...

जमीन को जगह–जगह से परखने वालों ने जो इल्म हासिल कर लिया है, वह इल्म अभी जन्म–जन्म की परख–पहचान के लिए किसी को हासिल नहीं हुआ। इतिहास में ऋषियों–मुनियों की ज़बानी इस इल्म का कुछ अता–पता ज़रूर मिलता है, पर बाकी

इन्सानी ज़ात को अभी यह नसीब नहीं हुआ। इसलिए कह सकती हूँ कि सिद्धि ने जब कुन्ती की सूरत में जन्म लिया, तो हो सकता है कि कुन्ती की याददाश्त में उसकी कोई परछाई उसे दिखाई देती रही हो, लेकिन मेरे भीतर के कवि को इस बात का कोई इल्म नहीं कि वह कौन–से जन्मों की कशिश थी जो मुझे हमेशा अक्षरों की ओर खींचती थी।

दूर, जहाँ तक दिखाई देता है, सिर्फ इतना–सा दिखता है कि मेरे पिता की रातें प्राचीन ग्रन्थों के जिन पृष्ठों में सोती थीं, उन्हीं पृष्ठों में जागती थीं। वे शायद एक कुन्तिभोज थे, जो सदियों के ज्ञान से उसका एक अंश ले रहे थे। और लगता है कि उसी का कोई कण मुझे विरासत में मिला होगा...

मेरे भीतर से एक कवि कैसे जाग गया, यह मैं नहीं जानती, लेकिन जब जाग गया, तो अपनी पहचान अक्षरों में उतरी:...

कुन्ती के युग में दुर्वासा ऋषि का आकर कोई वरदान देना, सिर्फ कुन्ती के युग में हो सकता था। लेकिन कवि हर युग में होता है, दुर्वासा हर युग में नहीं होता, फिर भी कुछ इसी तरह का कवि के साथ घटता है। लगता है, काया बदल जाती है, आत्मा नहीं बदलती। मेरे अंतर में से कवि जाग गया, वारिस की जानशीन होने का संकल्प जाग गया,...

सूरज तो एक अग्नि–कण कुन्ती को देकर आसमान पर जा बैठा, लेकिन वह अग्नि–कण जब कर्ण बन गया, तो उस कर्ण का दर्द कौन जान सकता है...

मुहब्बत का अग्नि–कण कवि को मिलता है, पर वह अग्नि–कण जब कविता बन जाता है, अपनी किस्मत का प्याला, उसे भी अपने होंठों से पीना होता है...

कुन्ती के पास जो मन्त्र था, वह घड़ी–पल के लिए सूर्य को धरती पर उतार सकता था, पर कवि के पास अहसास की शिद्दत का जो मन्त्र होता है, वह अपने प्रिय को धरती पर नहीं उतार सकता। वह सिर्फ़ उसे अपनी कल्पना की जमीन पर उतार सकता है...

कल्पना की कोख भी कुन्ती की कोख जैसी होती है, और दोनों के अग्निकणों को एक ख़ामोशी में से जन्म लेना होता है। और फिर कर्ण को बहते हुए पानी के हवाले हो जाना होता है, और कविता को बहती हुई पवन के हवाले...

किसी इलाही–शक्ति का कण जिसकी झोली में पड़ता है, फिर शायद रवायती ज़िंदगी का कोई भी सुख उसकी झोली में नहीं पड़ सकता।

कुन्ती राजा पांडु को ब्याही गयी। पर राजा को श्राप था कि पत्नी की सेज पर उसकी मौत हो जायेगी। राजा सेज से वंचित रह सकता था, लेकिन वंश की वीरानी से नहीं। इसलिए कुन्ती ने उसी दुर्वासा–वरदान के सहारे तीन देवताओं से तीन पुत्र पैदा किए– धर्म से युधिष्ठिर, वायु से भीम, और इन्द्र से अर्जुन। और कुन्ती ने वे पुत्र राजा पांडु की गोद में रख दिए। उन तीनों पुत्रों पर राजा पांडु की छत्र–छाया थी, इसलिए वे किसी रवायत से अपमानित नहीं हुए। वह राज्य के हक़दार भी हुए।

देख रही हूँ–तकदीरों के नक्श किस तरह एक जैसे होते हैं। कवि जब वतनपरस्ती की कविताएँ लिखता है, अगरचे वे भी उसने मिट्टी के इश्क में से लिखी होती हैं, और अम्बर से कोई शक्ति–कण लेकर वह लोगों की पीड़ा में उतरता है, लेकिन वे कविताएँ, अफ़वाहों के घेरे में नही आतीं।

गर्म अफ़वाहें सिर्फ कर्ण के बदन को जलाने के लिए होती हैं, और दिल के खून में भीगी हुई हर कविता के लिए।

कुन्ती का कर्ण को बहती हुई नदी के हवाले कर देना, कुन्ती को सारी उम्र के लिए

एक ऐसा दर्द दे गया था, कि उस दर्द की पहचान के लिए, सूर्य की परिक्रमा करती हुई धरती भी एक क्षण के लिए खड़ी हो गई थी। पर कवि का, अपनी आत्मा के एक टुकड़े को बहती हुई पवन के हवाले कर देना, अपने हाथों, अपने अक्षरों को बहा देने का ऐसा कर्म होता है, जिसे शक्ति–कण भीगी हुई आँखों से देखते हैं :

आँखों पर धुधं को लपेटकर
सूर्य की परिक्रमा करते हुए
किसके कदमों की रेत चूमती हुई
आज यह धरती खड़ी रह गई...

कुन्ती, सूर्य का पता जानती है, पर कर्ण को नहीं बता सकती। कवि अपने प्रिय का पता जानता है, पर कविता को नहीं बता सकता। इश्क का यह मौन–व्रत इलाही–क्षणों का तकाज़ा होता है।

इन मन्सूरी तक़दीरों को सिर्फ कुन्ती का मस्तक झेल पाता है या कवि का। इसलिए अम्बर की मटकी से किसी बादल का ढकना उतारकर, एक घूँट चाँदनी पी सकने का वक़्त भी सिर्फ कुन्ती को और कवि को नसीब होता है...



सपनों के साये

एक वाकया सुना था, पता नहीं किस काल का था, धूल मिट्टी की पर्तों में लिपटा हुआ। मैं नहीं जानती–उसमें क्या था, जो मुझे उस काल में ले गया, जहाँ एक महल था, नदी के किनारे, अकेले एक खंडहर की तरह खामोश, जिसके दूर नज़दीक सिर्फ एक वीरानी थी, कंटीली झाड़ियाँ, और छोटी–छोटी पहाड़ियाँ–सी...

और जो छोटा–सा वाकया सुनाया गया – फिर उसकी खामोशी सुलगने लगी। महल की दरो दीवार से कुछ आवाजें आने लगीं, जो कभी उस नदी के पानी में डूब जातीं, कभी दूर जाती हुईं–दूर पास की वीरानी में खो जातीं, और उनका कोई लफ्ज़ मेरी पकड़ में नहीं आता था...

जाने कब–फिर धूल मिट्टी की पर्तें कुछ हिलने–सी लगीं, कुछ साये दिखाई–से देते, और फिर किसी पत्थर की ओट में खो जाते...

इतना भर जाहिर था–कि वह पूरी इमारत पत्थरों की बनी हुई थी...वही साये–खुदा जाने क्यों, मेरे ज़ेहन में हिलते डोलते, साकार से होने लगे...

आवाज़ें थीं–एक रुलाई जैसी, पर जैसे ज़मीन के नीचे कोई दबी सी आवाज़ में गा रहा हो...

मैं पूरी होशमंदी में – उसे लफ़्ज़ देने लगी। कई शेर अपनी पहले से लिखी हुई नज़्मों से भी लिए – पंजाबी जुबान से बदल कर उर्दू–हिन्दी में ढालते हुए, और फिर अहसास की इन्तहा, उन्हें खुद ही लफ़्ज़ देने लगी...और लिखते–लिखते मुझे लगने लगा – कि यह विलाप जैसी नज़्में, मैं लिख नहीं रही, सुन रही हूँ...और वे साये – एक कहानी के किरदार बनते गए...

मैं नहीं जानती – कैसे, पर एक पहाड़ी के दूसरी ओर, एक गुफ़ा की सी सूरत में बना हुआ एक मंदिर दिखाई दिया, जिसे देखते ही – एक कंपन मेरे बदन में उतर गया...लगा, मैने वह गुफा देखी हुई थी, शिव की वह मूर्ति भी – और उसके सामने पड़ा हुआ एक बहुत बड़ा ज़र्द फूल भी...

मेरी इस दीवानगी को, रोज सुबह इमरोज़ देखते थे – जब मैं कांपती–सी आवाज़ में गाने लगती थी –

कभी तो कोई इन दीवारों से पूछे
कि कैसे इबादत गुनाह बन गई है...

और लगता – इस वक्त जो आंखों में आंसू हैं, यह आज के नहीं हैं। बहुत पहले से,

पता नहीं किस काल से, यह मेरी आखों में हैं...

इस वक्त, बस इतना ही कह पाऊंगी कि वे साये थे, जो खुद बखुद एक कहानी के किरदार बनते गए...और उस कहानी को मैंने नाम दिया है – 'विरासत'

कभी चेतन मन से यह भी सोचती हूं–कि मैंने अपने सपनों में जो अपना पूर्व जन्म का कत्ल देखा था, वह भी एक साये की तरह इस कहानी पर छाया हुआ है...

विरासत

बंबई, पाली हिल पर एक छोटा–सा बंगला है, जिसके एक कमरे में कुमार सेतु सुबह की चाय पीते हुए अचानक उठता है, टेप रिकार्ड में एक टेप लगाता है, एक नज़्म सुनाई देती है–तरन्नुम में...

चांद सूरज जिस तरह, एक झील में उतरते हैं
मैंने तुम्हें देखा नहीं, कुछ नक्श से उभरते हैं...

माना कि रात लम्बी है, और नज़र कुछ आता नहीं
कितनों के सारे काफिले, इस राह से गुज़रते हैं...

वायदों को तोड़ती है, हर बार ही ये ज़िदंगी
कुछ लोग हैं मेरी तरह, फिर एतबार करते हैं...

कुमार सेतु कमरे की खिड़की के पास खड़ा हुआ, जब टेप खत्म होता है, वह फिर से उसी टेप को लगाता है...

कमरे में नौकर आता है, चाय के बर्तन उठाने के लिए, देखता है आधा प्याला चाय उसी तरह पड़ी है, कहता है – "साहब! ये चाय तो ठंडी हो गई, गर्म ला दूं?"

कुमार कहता है–"नहीं, ज़रा फ़ोन लाओ!"

नौकर वायरलैस फोन लाता है, कुमार एक नम्बर मिलाते हुए, पूछता है–"रवि होंगे?...नहीं...दिल्ली गए हैं? – अच्छा, बोल देना, कुमार सेतु का फोन था..."

कुमार फिर डायरी निकाल कर देखता है, और डायरी को जेब में रख कर, कमरे से बाहर आकर गैरेज से गाड़ी निकालता है...

वर्ली इलाके की, समुन्दर के किनारे पर बनी एक पुरानी इमारत है, तीन मंजिला। कुमार गाड़ी को रोक कर, उस इमारत में जाता है, ऊपर की मंजिल पर। छोटे–छोटे फ्लैट एक दूसरे से सटे हुए हैं–जिनका एक ही लम्बा बरामदा है, जिससे गुज़रते हुए वह एक फ्लैट का नम्बर देख कर, उसके दरवाज़े की घंटी बजाता है। जो दरवाजा खोलता है, वह सादे–से लिबास में एक खूबसूरत नौजवान है, जिसे देख कर कुमार सेतु कहता है–"लगता है, पहचानता हूं, आप इकबाल हैं न!"

–"जी हां, आइए!"

–कुमार अंदर जाते हुए हंस–सा देता है, कहता है–"आपने पूछा नहीं मैं कौन हूं?"

इकबाल, कमरे में जाते हुए, एक दीवान की ओर हाथ करते हुए, बैठने को कहता

है–"लगता है, मैं भी आपको पहचानता हूं–आप कुमार सेतु हैं न!"

कुमार सेतु दीवान पर बैठने की जगह पीछे खिड़की में जाकर खड़ा हो जाता है, जिसके बाहर दूर तक सिर्फ समन्दर दिखाई देता है–इकबाल भी पास आकर खड़ा हो जाता है...

कुमार सेतु पूछता है–"मैं तो आपका पता पूछ कर आया हूं, इसलिए पहचान लिया– आपने कैसे पहचाना?"

इकबाल हंस सा देता है–"वह अपना दोस्त है न रवि, कई बार आपकी बातें करता है..."

कुमार सेतु इकबाल के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहता है–"आप बहुत बड़े शायर हैं–आपकी नज़्म सुनते हुए, एक दीवानगी–सी तारी हो जाती है..."

"मेरी नज़्म? आपने कब सुनी?"

"अपना दोस्त है न रवि, उसने कभी अपने कमरे में आपकी एक नज़्म टेप की थी– कई बार वह बहुत कुछ सुनाता था, लेकिन आपकी आवाज़ में पहली बार सुनी, मैंने उससे टेप मांग लिया था..."

इकबाल हंस देता है,–'आप मुझे बुला लेते, मैं आ जाता आपने तकलीफ की आने की...आईए! बैठिए न!'

कुमार सेतु दीवान पर बैठ जाता है। इकबाल पूछता है–"थोड़ी सी चाय लेंगे?"

"नहीं, चाय अभी ली थी। मैं एक गुज़ारिश करने आया हूं।" कुमार कह रहा होता है, जब इकबाल इसरार करता है—"मेरे हाथ की चाय लीजिए, बहुत अच्छी बनाता हूं..."

"अच्छा! कुमार सेतु कहता है, तो इकबाल, पास लगती रसाई में चाय बनाने के लिए चला जाता है..."

कुमार सेतु मेज़ पर रखी हुई एक दो किताबें उठा कर देखता है, जब इकबाल चाय ले आता है, तो कुमार पूछता है–"अकेले रहते हैं?"

"हां, मां बाप गांव में हैं। यहां बंबई आया तो इस समन्दर ने कहीं जाने नहीं दिया...इकबाल कहते–कहते अचानक पूछता है–"आप कुछ कहने वाले थे?"

कुमार सेतु, इकबाल के कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्यार से कहता है–"देखो! यार इन्कार नहीं करना, मैं दो–चार रोज़ आपके करीब रहना चाहता हूं..."

"मेरे करीब?" इकबाल हंस देता है–"यहां? आपको तकलीफ होगी – यहां तो कोई खाना पकाने वाला भी नहीं है–मैं खुद ही बनाता हूं..."

कुमार सेतु चाय पीते हुए, कहता है–"वह कोई बात नहीं, लेकिन मैं दो चार रोज़ के लिए, घर जा रहा हूं, कल सुबह, चाहता हूं – आप मेरे साथ चलें!" इकबाल थोड़ा सा हैरान होता है, फिर कहता है – "लेकिन आप लोग, सुना है – रियासत के मालिक हैं– वहां आपके महल में, वहां का अदबो–अदाब मुझेसे नहीं हो पाएगा..."

कुमार सेतु, खिड़की से आती हुई समन्दर की आवाज़ में खो–सा जाता है, फिर कहता है – "रियासत के मालिक थे, अब नहीं हैं, एक छोटा–सा महल बचा है, नदी के किनारे–बिलकुल एकांत में, दूर नजदीक सिर्फ कुछ पहाड़ियां हैं, और जंगल, आपको अच्छा लगेगा...वहां कुछ दिन आपकी नज़्में सुनूंगा...बस और कुछ नहीं..."

इकबाल खामोश–सा रह जाता है – कुमार सेतु कहता है– "मैंने कहा था न, इन्कार नहीं करना...रवि यहां होता, तो उसे भी साथ ले लेते – कमबख़्त दिल्ली गया

हुआ है...आज सुबह मैंने उसे फोन किया था..."

कुमार सेतु फिर कहता है–"देखो! मन नहीं लगे तो लौट आना। बहुत दूर नहीं है–इन्दौर के पास पड़ता है–उस से बहुत पहले..."

इकबाल खामोश–सा रहता है – कुमार सेतु फिर कहता है–"समन्दर के पास तो हमेशा रहते हो–थोड़ा सा जंगल भी देख लो..."

कुमार सेतु दीवान से उठते हुए, दरवाज़े के पास रुक–सा जाता है–"इकबाल! तुम नहीं जानते, तुम्हारी नज़्म में और आवाज़ में क्या है...अच्छा, मैं कल सुबह गाड़ी लेकर आऊंगा...रास्ता भर गाड़ी में वही टेप सुनते रहेंगे..."

इकबाल उसके साथ, नीचे तक, उसे गाड़ी तक छोड़ने आता है...

दूसरे रोज़ कुमार सेतु और इकबाल बड़ी सड़क पर एक लम्बा रास्ता तय करते हुए जब अचानक एक चौक से, बाईं तरफ जाती हुई छोटी सड़क पर पहुंचे तो कुछ दूर आगे जाकर इकबाल दोनों ओर के जंगल को देखता हुए कुमार सेतु से कहने लगा–

"गाड़ी बहुत आहिस्ता कर दो! यह रास्ता..." कुमार सेतु मुस्करा दिया, कहने लगा–"यार, रास्ते में तुमने चाय तक नहीं ली, मैं चाय नाश्ता फल लेकर आया था–कहो तो गाड़ी रोक लूं?"

इकबाल हंस दिया–"नहीं दोस्त! यह वक्त कुछ खाने का नहीं–सिर्फ देखने का है..."

"कहो तो तुम्हारी नज़्म वाला टेप लगा दूं?" कुमार सेतु ने पूछा तो इकबाल ने इतना ही कहा–"नहीं, इस खामोशी को खामोशी रहने दो !"

काफी दूर जाने के बाद, अचानक एक नदी दिखाई दी, कुमार सेतु ने इकबाल की ओर देखा, वह हल्के से मुस्करा दिया–"सुनो! यह पेड़ पत्ते की आवाज़, पानी में भीगी हुई..."

फिर नदी के किनारे—पत्थर की एक इमारत दिखाई दी, कुमार सेतु ने कहा—"वहीं अपना घर है..."

इकबाल कुछ देर खामोश रहा, फिर कहने लगा—"लगता है, एक सपना धरती पर बिछा हुआ है..."

कुमार सेतु हंस दिया—"हां, सपने भी धरती पर कदम रखते हैं, जिस तरह तुम्हारी शायरी...चाहता हूं, यहां तुम बहुत दिन रहो, और लिखते रहो..."

इकबाल ने एक नज़र कुमार सेतु को देखा, फिर कहा—"शेअरो–शायरी तो बहिश्त से निकाले जाने के बाद लिखी जाती है..."

कुमार सेतु ने कहा कुछ नहीं, इकबाल की ओर देखा...

"हां दोस्त! आदम जब तक बहिश्त में था, क्या किया उसने? उसने जो सोचा, किया सब बाद में..." इकबाल कह रहा था, जब कुमार सेतु ने गाड़ी और आहिस्ता कर दी, कहा, —"अभी तो बहिशत में रहने की बात करो, फिर यहां से निकाले जाने की बात भी सोचेंगे..." गाड़ी करीब करीब एक पत्थर की इमारत के पास पहुंच चुकी थी, जब इकबाल ने कहा—"कोई बात नहीं, हम आदम की औलाद हैं, बहिश्त से निकलना भी जानते हैं..."

इमारत के सामने गाड़ी के रुकते ही—दरबान और दो नौकर पास आए, दरबान कहने लगा—"छोटे सरकार! हम कब से आप की इंतजार में खडे हैं..."

इकबाल उस इमारत की ओर देखे जा रहा है, जहां बाहर की दीवार पर, एक काले

पत्थर में, सोने के रंग के अक्षर हल्की–सी धूप में चमक रहे हैं—राजा राव सिंह…

गाड़ी से सामान उतारा जा रहा था, जब कुमार ने कहा—"देखो! यह एक सूटकेस मेहमान खाने में ले जाओ!" फिर दरबान से पूछा—"बड़े सरकार ठीक हैं न!" दरबान ने कहा—"जी साहब! वे बड़े कमरे में आप का इंतजार कर रहे हैं..."

कुमार सेतु इकबाल को लेकर बड़े कमरे में जाता है—जो निहायत सलीके से सजा हुआ है। फर्श पर सुर्ख कालीन बिछा हुआ है, जहां दीवान पर बुजुर्ग से दीखते राजा साहब बैठे हैं—जो कुमार को देखते ही दीवान से उठते हैं—उसे गले से लगाते हैं। फिर इकबाल की नमस्कार का जवाब देते हुए कहते हैं—"कैसे हो बर्खुरदार! फोन पर कुमार बहुत तारीफ कर रहा था —" "पिताजी! इनकी नज़्में, ... आप सुनेंगे तो..."

राजा साहब हंस देते हैं, "हां, किसी जमाने में, वहां बड़े किले में शेअरो–शायरी की महफिल भी होती थी..."

कुमार ने कहा—"लेकिन यहां एकांत में एक सकून मिलेगा..."

पास से इकबाल कहता है—"नहीं, राजा साहब! सकून तो लिखने वाले के पास भी नहीं होता, फिर नज़्मों में कैसे होगा..."

राजा साहब दीवान पर बैठते हुए कहते हैं—"ठीक कहते हो बर्खुरदार! लिखने वाले के लिए नहीं होता, हो सकता है—सुनने वाले को मिलता है—"

कुमार सेतु कुछ तकिये राजा साहब के नज़दीक करता है, पूछता है—"डाक्टर आता है?" वे सिर्फ इतना ही कहते हैं—"हां, आता है पर उसके आने से क्या होता है..."

"पैरों का दर्द कुछ कम हुआ है?" कुमार पूछ रहा होता है, जब राजा साहब हंस देते हैं—"कभी जमाना था, बेटे, जब से पैर जमीन पर पड़ते नहीं थे, और अब जमीन से उठते नहीं हैं..."

कुमार सेतु ने कहा—"मैं इकबाल को मेहमान खाने में छोड़ कर आता हूं…"

"तुम भी थक गए होगे–जाओ कुछ देर आराम कर लो, अब तो दोपहर के खाने का वक्त भी हुआ जाता है..." राजा साहब कहते हैं, और कुमार इकबाल को लेकर मेहमान खाने की तरफ जाता है—

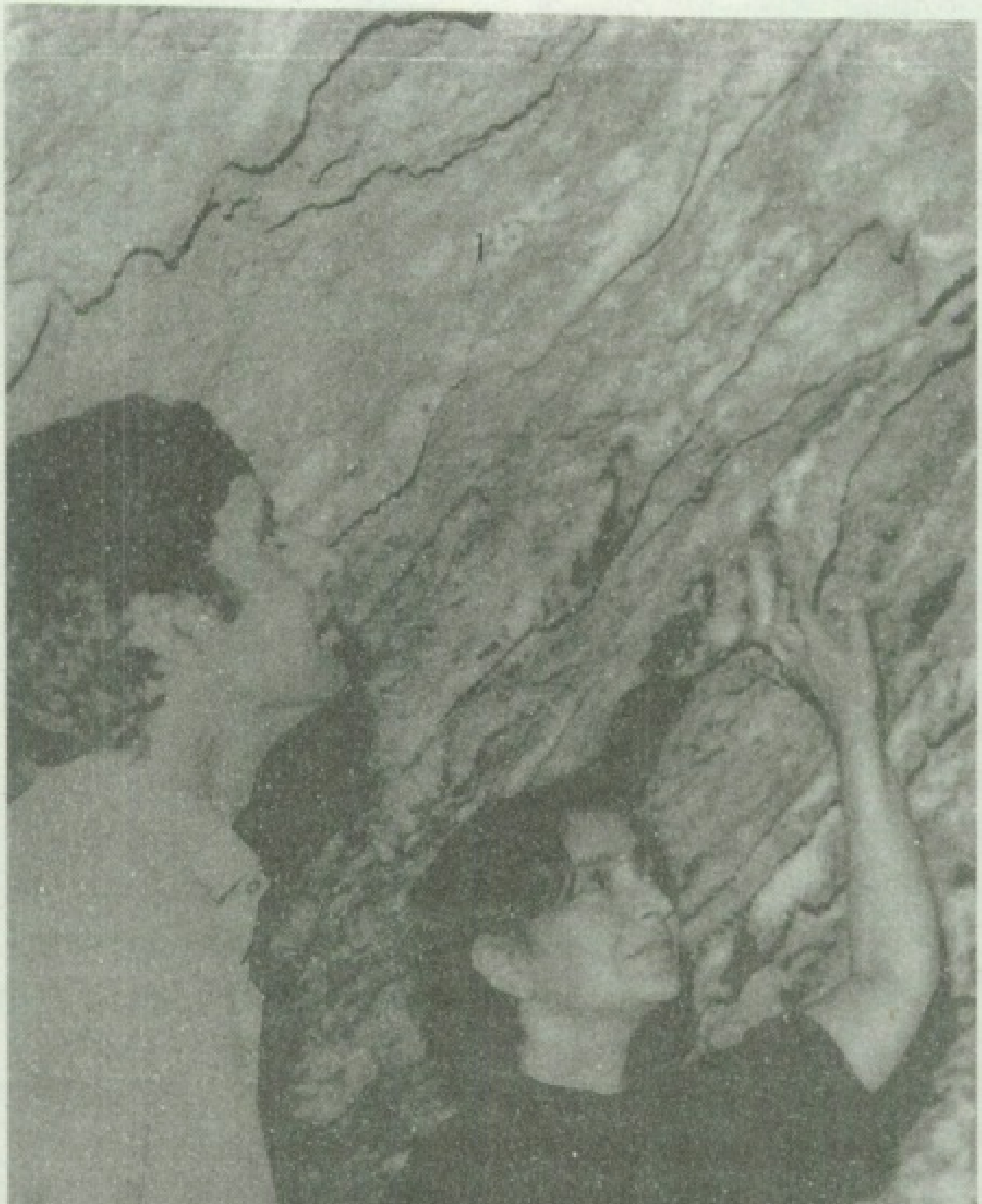
इस इमारत की—सब खिड़कियां नदी की ओर खुलती हैं—मेहमान खाने की खिड़की के पास इकबाल खड़ा हो जाता है—कहता है—"देखो! कुमार! इमारत का कुछ साया पानी में किस तरह कांपता–तैरता है..."

कुमार मुस्करा देता है, कहता है— "वक्त की रफ्तार को पकड़ पाना बहुत मुश्किल होता है—इकबाल!"

इकबाल उसकी तरफ देखता है, तो कुमार कहता है— "मैं पिताजी को सोचे जा रहा हूं—अब न किले हैं, न राग रंग की कोई महफिल—लेकिन वे—' और बात पलटता हुआ कहता है— "तुम यहां इतमीनान से बैठो। मैं चाय भिजवाता हूं। पिताजी को अकेले में अच्छा लगता है सिर्फ जब मैं आता हूं—तो चाहते हैं कि खाने के समय मैं उनके पास रहूं..."

इकबाल मुस्करा देता है— "मेरा फिक्र क्यों करता है कुमार! मुझे भी यहां अकेले में अच्छा लगेगा..."

इमरोज़ के साथ



कुमार मेहमान खाने से लौटता हुआ—एक लम्बे बरामदे के दूसरी तरफ —एक कमरे में. जाता है, जहां दरवाज़े के पास हो कर अहिस्ता–से आवाज़ देता है—"शीना

"आइए भाई साहब!" शीना उठ कर दरवाजे के पास आती है—

कुमार, प्यार से, उसे बाहों में भर लेता है, कहता है— "तुमने जो किताबें कही थीं

—वे सब लाया हूं, कैसी को?" —अच्छी हूं। भाई साहब! बैठो न! सुना है..."कहते–कहते रुक जाती है। कुमार कमरे के दीवान पर बैठ जाता है, पास शीना बैठती है। कुमार पूछता है—"क्या सुना है?"

"सुना है— आपके एक शायर दोस्त आपके साथ आए हैं..."

"हां, आए हैं, तुम उनकी शायरी सुनोगी तो..."

"मैं? मैं कैसे सुनूंगी? आपका जब फोन आया था, पिताजी ने बुला कर मुझे कह दिया था..."

– "क्या कह दिया था?"

"यही कि मैं घर में किसी गैर के सामने नहीं जाऊंगी..."

कुमार खामोश–सा रह जाता है, फिर कहता है—"अच्छा, जब बड़े कमरे में हम लोग बैठेंगे, शाम को तब तुम वहां दरवाज़े की ओट में खड़ी रहना—पागल कर देने वाली शायरी है...क्या आवाज़ है, और क्या अलफाज़..." शीना के चेहरे पर एक गहरी उदासीनता आती है– और वह खामोश दीवार की ओर देखती रहती है...

"बात यह है कि पिताजी कहीं तुम्हारी शादी की बात कर रहे हैं– 'कुमार कह रहा होता है, जब शीना बोल उठती है–" "जानती हूं– सुना है, उन लोगों के घर की औरत, बस दीवारों में सिमट कर रह जाती है– भाई साहब!" शीना पहले खामोश–सी हो जाती है, फिर कहती है—"मुझे अपने साथ बंबई ले जाओ।...या आप भी यहां आ जाओ!" कुमार हंसते हुए शीना के हाथ को सहलाता है, कहता है—"बस, एक साल और, फिर मैं यहां आ जाऊंगा—तेरे पास..."

उतरते हुए सूरज की लाली, नदी के पानी पर बिछी हुई थी, जब कुमार इकबाल के कमरे में आया कुछ कहने लगा, जब इकबाल ने खिड़की के पास हो कर कुमार से कहा —"देखो! नदी में उतरते हुए सूरज को देखो!"

"क्या सोच रहे हो," कुमार ने पूछा तो इकबाल हंस दिया—"कुछ नहीं, इतनी खूबसूरती को झेल पाने की आदत नहीं है–" कुमार बात को

पलटता है—"खाना ठीक से मिल गया था?" इकबाल नदी की ओर देखता है —"दोस्त! कैसे शुक्रिया करूं कि. तुम मुझे किसी तकन्नफ में नहीं डालते। मैं यहां अकेला इतना खुश हूं

"अच्छा– अब, थोड़ा सा तकल्लुफ करना होगा—बड़े सरकार आप को याद कर रहे हैं..." इकबाल मुस्करा कर कहता है—"तुम भी उन्हें बड़े सरकार कहते हो?"

"हां कभी–कभी"...और कुमार सेतु इकबाल को साथ लेकर वहां बड़े कमरे में जाता है, जहां राजा–साहब, मेज़ पर ब्रांडी, विस्की और कोनियाक रखवा कर बैठे हैं...

"क्या पसंद करोगे बर्खुरदार!" राजा साहब पूछते हैं, तो इकबाल उनके पास होकर अदब से नमस्कार कहता है, और मुस्करा देता है—"जो आप देंगे।"

राजा साहब कहते हैं—"भई, मैं तो सिर्फ ब्रांडी लेता हूं, और कुछ नहीं— आप लोग जो चाहते हो डाल लो!"

कुमार सेतु दो गिलासों में थोड़ी सी विस्की और सोडा डाल कर एक गिलास इकबाल को देता है—राजा साहब के हाथ में पहले से ब्रांडी का छोटा–सा गिलास है…

कुमार सेतु कहता है—"इकबाल, वह जिंदगी वाला शेर सुना दो! मैंने रवि से सुना था, तुम्हारी आवाज़ में नहीं—वह जो हैं—सुना है, जिंदगी को गवारा नहीं..."

इकबाल कहता है—"दोस्त! वह तो एक ही शेर है—बस एक दो—वह नज़्म तो पूरी नहीं हुई..."

"कोई बात नहीं," कुमार इसरार करता है—तो इकबाल वही शेर पढ़ता है—

ज़िंदगी को गवारा नहीं कि हम जियें!
जीने का क्या है—
उसको ख़बर ही न हो, कुछ इस तरह जी लेंगे...
ये शेअरो शायरी, महबूब के तखइयल की तरह
हम इस का भी अर्गवानी ज़हर पी लेंगे...

राजा साहब झूम जाते हैं—"खूब कहा, खूब कहा बेटे! जीते रहो!"

इकबाल आहिस्ता से कहता है—"खूब तो आपने कहा! मैंनैं तो ज़हर पीन की बात की और आपने जीते रहने की बात की!"

राजा साहब मुस्कराते हैं, पूछते हैं—"कैसा लग रहा है यहां?" इकबाल खामोश रहता है, कुमार सेतु कहता है, मैंने भी यही बात पूछी तो कहने लगा—"बहुत उदास हूं, इतनी खूबसूरती को झेल पाने की आदत नहीं है..."

राजा साहब मुस्करा देते हैं, कुमार सेतु के कहने पर इकबाल एक नज़्म कहता है—वही, जो टेप में कुमार के पास थी...

चांद सूरज जिस तरह—एक झील में उतरते हैं—

कोई नहीं जान पाया कि दरवाज़े के पीछे खड़ी शीना तड़प—सी गई और दबे पैरों वहां से चली गई...

इकबाल नज़्म के बाद खामोश–सा हो गया, तो राजा साहब कहने लगे—"तुमने ठीक कहा—तुम्हारे शेर और तुम्हारी आवाज़...इस सब को झेल पाना भी कुछ मुश्किल है..."

इकबाल उठता है–"इजाजत दीजिए! मैं यहीं हूं जब याद करेंगे हाजिर हो जाऊंगा..."

कुमार दरवाजे तक उसके साथ जाता है, फिर कहता है–"बहुत सुबह के वक्त तुम्हें जगाऊंगा हम लोग पास की पहाड़ी पर चलेंगे वहां सूरज उगता हुआ देखेंगे..."

इकबाल का खाना उसी के कमरे में मेज पर लगा दिया जाता है–लेकिन वह नदी की ओर खुलती खिड़की में खड़ा देखता रहता है–जहां महल की बत्तियों की रोशनी नदी के पानी में झिलमिलाती –एक अजीब सा मंजर बन गई है। फिर कुछ गुनगुनाता हुआ–मेज के पास आकर एक कागज पर कुछ लिखने लगता है–

कागज पर लिखे हुए हरफ–उसके होठों पर एक लय में बंध जाते हैं–

तुम कौन हो? कहां हो तुम?
हकीकत का एक साया या महज एक ख्याल हो!
और शायद इस जमीन से, आकाश का सवाल हो!
तुम कौन हो? कहां हो तुम?
ये जेहन की मदहोशिया ये सुलगती खामोशियां

तुम जिंदगी की चीख हो, या मौत का जमाल हो।
तुम कौन हो? कहां हो तुम?

और कोई नहीं जानता –कुमारी शीना एक लम्बे बरामदे में से साये की तरह चलती हुई मेहमान खाने से कुछ दूर खड़ी– सुन रही होती है...

सुबह अभी नहीं हुई थी जब कुमार सेतु इकबाल के दरवाजे पर दस्तक देता है...

इकबाल कंधों पर गर्म चादर लपेट कर कमरे से बाहर आने को होता है जब कुमार पूछता है–"रात अच्छी गुजरी?" इकबाल वहीं दरवाजे के पास आकर कहता है – एक स्थ कहीं थी लेकिन रात को सो नहीं पाया – ठीक तरह से..."

कुमार कहता है–" यार! ष्मु सुनाओ! सोने की बात छोड़ो। शायर लोग कब ठीक से सो पाते हैं..."

इकबाल कुछ हैरान सा खड़ा रहता है–"ये बात नहीं रात को दूर से एक घोड़े के पैरों की आवाज आती रही जो कदम–कदम बढ़ती हुई–इस महल की तरफ आती रही..."

"क्या बात करते हो! रात को कौन आएगा?"

कुमार कह रहा होता है जब इकबाल कहता है–"मैंने जितनी बार सोने की कोशिश की उसी आवाज से जाग जाता था...कौन आया था रात को–घोड़े पर?"

"छोड़ो यार! चलें! कोई सपना आता रहा होगा तुम्हें! वह नव्य साथ ले लो! वहां पहाड़ी पर बैठ कर सुनाना...

इकबाल मेज की तरफ देखता है फिर कहता है–"मुझे याद है कागज की जरूरत नहीं–चलो!"

कुमार सेतु और इकबाल वहां से पहाड़ी की तरफ चल देते हैं और शीना अपने कमरे की खिड़की में खड़ी–दूरबीन से उन्हें देखती है...

हलकी–सी धूप निकल आई है, जब वे लौटते हैं कुमार, इकबाल के कमरे में आकर कहता है–यार वह कागज मुझे दे दो! स्थ वाला, वही जो रात को लिखी थी..."

इकबाल मुस्करा देता है—"अभी पहाड़ी पर बैठ कर तुम्हें सुनाई थी...अच्छा! ले जाओ!"

कागज ढूंढता है पर वह मेज पर मिलता नहीं–इकबाल मेज पर रखी दो .

तीन किताबों को खोल कर भी देखता है। कहता है–"यहीं तो छोड़ कर गया था। किताब के नीचे पड़ा था पर कहीं नहीं मिलता–"

"खिड़की खुली थी शायद हवा से इधर–उधर हो गया हो।" कुमार कहता है–और वे दोनों कमरे के हर कोने में देखते हैं पर वह नव्य का कागज़ नहीं मिलता

कुमार सेतु कमरे वाली खिड़की बंद करता है कहता है–"जाने कैसी हवा चली है वह कहीं तुम्हारी याद से भी न उड़ जाए–उसे फिर से लिख लो। मैं चाय भिजवाता हूं?.."

शीना अपने कमरे में चाय पीती हुई हाथ में लिए एक कागज को देखती और हलके से गुनगुनाती है–

ये जेहन की मदहोशिया ये सुलगती खामोशिया

कमरे में उसकी दासी आती है जिसे शीना अपने पास बैठने को कहती है...” तुम्हारा नाम बहुत अच्छा है–हस्त कला तूने बताया था न कि तेरा नाम हस्त नक्षत्र पर रखा गया था...”

“हमारे यहां कई बेटियों का नाम नक्षत्रों पर रखा जाता है। जो स्वाति नक्षत्र में पैदा होती है उसका नाम स्वाति जो रेवती नक्षत्र में पैदा होती है, वह रेवती...” दासी जमीन पर शीना के पास बैठ जाती है...फिर पूछती है–“ये सब आप जानती हैं– फिर आज कैसे पूछ रही हैं?”

शीना कहती है–“ऐसे ही मुझे तुम्हारा नाम अच्छा लगता है...अच्छा ये बताओ उस पहाड़ी के पीछे एक मंदिर है न. वह जो स्व गुफा–सी में है जहां शिव की मूर्ति है.. पत्थरों को काट कर बनाई हुई...”

“हां बेटी! मंदिर तो है पर आप ने कब देखा?”–दासी जवाब देती

“नहीं तो देखा तो नहीं पर कभी कभी लगता है–मैंने वह देखा है...तुम मुझे वहां क्यों नहीं ले जाती?” शीना पूछती है। दासी चुप–सी हो जाती है फिर कहती है–“आप जानती तो हैं कि वहां इस खानदान की किसी औरत को जाने नहीं दिया जाता–”

“–पर क्यों? यही तो पूछ रही हूं?..”

शीना पूछती है तो दासी कहती है–“रानी साहिबा जब तक रहीं उस मंदिर में नहीं गई–”

“वही तो पूछ रही हूं, हस्तकला! तुम मेरी मां के जमाने से इस घर में हो” शीना कह रही होती है, जब दासी कहती है–” जब रानी साहिबा का विवाह हुआ, मैं उनके साथ ही तो आई थी, उनके मायके से–उनसे पहले भी उन्हीं की दासी थी...” “और मेरी मां कभी उस मंदिर में नहीं गई?” शीना ने पूछा, तो हस्तकला कहने लगी–“ऐसा नहीं है, वह कभी कभी जाती थी वहां पूजा करने, मैं साथ जाती थी, फिर राजा साहब ने कह दिया– ‘अब उस मंदिर में कोई नहीं जाएगा...”

“पर ऐसा क्यों, हस्तकला! कोई बात है जो तुम मुझे बताती नहीं–” शीना ने कहा–तो हस्तकला कहने लगी–“आज उस मंदिर का इतना ख्याल कैसे आ गया आपको? पहले तो कभी नहीं आया था...” शीना हंस दी–“ऐसे ही, आज भाई साहब अपने मेहमान को लेकर वहां गए हैं – इसीलिए ख्याल आया कि मैंने वह मंदिर कभी नहीं देखा – सोच रही थी मैं वहां क्यों नहीं जा सकती...”

दासी कुछ सोचती रही, फिर कहने लगी–“सुना है, वहां जाने से श्राप लगता है...”

शीना हंस दी, “क्या कहती हो! वहां शिव की पूजा के लिए जाएं तो वे श्राप दे देते हैं? मैं नहीं मानती।”

दासी फिर कुछ सोचती रहती है, कहती है–“एक तुम्हारी बुआ थीं, राजा साहब की छोटी बहन, वह जाती थी वहां और उन्हें श्राप लग गया था...”

“क्या श्राप लगा था?” शीना फिर खामोश होकर दीवारों की तरफ देखती हुई कहती है–“इतना सा जानती हूं कि अचानक उनकी मौत हो गई थी, लेकिन मौत तो किसी की भी हो सकती है– इनसे श्राप का क्या ताल्लुक है?”

दासी कहने लगी–“इतना सब तो मैं नहीं जानती, कुमारी जी! लेकिन कहते थे– उसी मंदिर का श्राप लगा उसे...”

–“अच्छा, यह बताओ! घर में कभी उसकी बात क्यों नहीं होती? मैं पिता जी से कुछ पूछती हूं–तो जवाब नहीं देते...” शीना पूछ रही थी जब दासी ने कहा–“बड़े

सरकार उसे बहुत प्यार करते थे, उसे घुड़सवारी भी उन्होंने सिखाई, तैरना भी, नाव चलाना भी–वही जब नहीं रहीं तो सदमा लगा, इसीलिए चुप-से हो गए–इतना कि हंसना भी भूल गए...इसीलिए बात नहीं करते–याद आती होगी उनकी...”

“कैसी थीं वे?” शीना ने पूछा। दासी कहने लगी–“बहुत सुन्दर, गुलाब की पंखुड़ी जैसी...”

शीना खामोश–सी हो गई, फिर कहने लगी–“घर में सबकी तस्वीरें हैं, बड़े राजा साहब की भी, दादा जी की, दादी की तस्वीर भी है, मां की भी पर बुआ की कोई तस्वीर नहीं, पता नहीं क्यों?”

दासी चुपचाप दीवारों की तरफ देखती रही...शीना ही कहने लगी–“उनका कमरा भी बंद कर दिया गया है, कभी खोला नहीं जाता–शायद पिताजी को उनकी याद आती होगी, इसलिए...” दासी मेज पर से चाय के बर्तन उठाने लगी...

दोपहर ढल चुकी थी, जब कुमार सेतु इकबाल के पास आया, कहने लगा– “आज शाम पिताजी के पास बैठेंगे, तो यार वही नज़्म पढ़ना–जो रात को लिखी थी–वह कागज़ मिला कि नहीं?”

इकबाल ने कहा–“नहीं मिला...कुछ समझ में नहीं आता, कुछ है, जो मेरी पकड़ में नहीं आ रहा, मैं...”

“खामोश क्यों हो गए यार! क्या कहने लगे थे?” कुमार सेतु ने पूछा तो इकबाल ने कहा–“यहां मेरे पास बैठो! मैंने खाना खाया तो हलकी सी नींद आ गई, लगा–नदी में कोई नाव चलती हुई, बिलकुल इस दीवार के पास आ गई थी...मैं जाग गया, खिड़की से देखा दूर नज़दीक कोई नाव नहीं थी...फिर कुछ नींद सी थी, जब वही आवाज़ सुनी, चप्पुओं की आवाज़ भी और यह भी कि कोई नाव में गा रहा था...”

‘क्या!’ कुमार सेतु इकबाल की ओर देखने लगा...

‘पता नहीं क्या है, जब से आया हूं यहां, कुछ पागल–सा हो रहा हूं–कभी घोड़े के चलने की आवाज़ आती है, कभी किसी नाव के चलने की–मेज पर एक कागज पड़ा है, जरा देखो!”

कुमार सेतु मेज़ पर से एक किताब के नीचे रखा हुआ कागज़ उठाता है, पूछता है–“नई नज़्म लिखी है?”

इकबाल हंसता है–“लिखी नहीं दोस्त! सुनी है–यही बोल थे जो कोई नाव चलाता हुआ गा रहा था...”

कुमार सेतु कागज़ को हाथ में लिए इकबाल के कंधों को कुछ इस तरह हिलाता है, जैसे उसे नींद से जगा रहा हो, फिर हंस देता है–“यार, तुमने सपने में लिखी होगी, और लगता रहा कि कोई दूसरा गा रहा है...”

“नहीं–नहीं–ये नज़्म मैंने नहीं लिखी, मैं जाग रहा था, जब आवाज़ सुनी–और कागज़ पर उतार ली...पढ़ो तो!” इकबाल कहता है, तो कुमार नज़्म पढ़ता है–



यह जिदंगी एक रात थी–
कि हम तो जागते रहे, किस्मत को नींद आ गई...

इकबाल उसके हाथ से कागज़ लेकर कहता है–"मैं सुनाऊं? जिस तरह कोई गा रहा था।" और नज़्म को गाने लगता है–

यह जिदंगी एक रात थी
हम तो जागते रहे, किस्मत को नींद आ गई...

इस मौत से वाकिफ हैं हम
अक्सर हमारी जिदंगी–उसका जिक्र करती रही

यह जिदंगी एक रात थी...
आती है अपनी याद सी
जब सामने आकाश में–है टूटता तारा कोई
यह जिदंगी एक रात थी

यही गाते गाते वह आवाज़ दूर होती गई–"
इकबाल ने कहा और परेशान–सा कुमार की ओर देखने लगा...
"मैं कुछ समझ नहीं पा रहा ...' कुमार ने कहा

"मैं भी कुछ समझ नहीं पाया..." इकबाल कुछ बहुत थका हुआ बिस्तर पर लेट गया...

कुमार सेतु शीना के कमरे में जाता है, शीना औंधी सी लेटी हुई एक किताब पढ़ रही है, कुमार को देखकर उठती है, कहती है–"आइए भाई साहब!"

कुमार पूछता है–"शीना तुमने कोई नए रिकार्ड खरीदे हैं?"

"मैंने कहां से लेने थे? जब लाते रहे हैं, आप ही लाते हैं" शीना कहती है, तो कुमार फिर पूछता है–"अभी कुछ देर पहले तुमने कोई रिकार्ड सुना था?"

शीना हंस देती है–"आप भूल गए भाई साहब! रिकार्ड प्लेयर तो कब से खराब पड़ा है–आप कहते थे–ठीक करवा देंगे..." कुमार हैरान–सा जाने को होता है, फिर ठहर जाता है, पूछता है–" तुम अभी कुछ गाती रही थी?"

"नहीं तो! क्या बात है? आप इतने परेशान से क्यों हैं?" शीना उठ कर खड़ी हो जाती है, फिर कहती है–" अभी अभी जब आप मेहमान खाने में गए थे, वहां से कुछ आवाज़ आई थी, शासद आपका दोस्त कुछ गा रहा था..."

"हां, वह तो मेरे सामने गा रहा था, उस से पहले ...पहले तुमने कोई आवाज़ सुनी थी?" कुमार पूछता है, शीना इतना भर कहती है–"नहीं तो..."

कुमार जाने लगता है, जब शीना पूछती है–"आप लोग सुबह पहाड़ी पर गए थे, उसी पहाड़ी के दूसरी तरफ एक मंदिर है, वहां भी गए थे?"

"नहीं तो!" कुमार इतना कह कर, शीना की तरफ देखता है–पूछता है "आज अचानक उस मंदिर की बात कैसे याद आई?" फिर खामोश सा बाहर नदी की तरफ देखता है, पूछता है–"तुम उस मंदिर में जाती हो?"

शीना उदास सी हंस देती है, "मुझे कहां जाने देते हैं–! आप लोग गए थे उस तरफ इसीलिए पूछ लिया..."

"जाना चाहती हो? मंदिर की बात किस से सुनी?" कुमार पूछता है तो शीना कहती है–"वह दूसरा मंदिर है न, जहां कभी कभी हस्तकला के साथ जाती हूं–वहीं उस मंदिर की बात लोगों से सुनी–जो एक गुफा में बना हुआ है, पत्थरों को तराश कर। कहते हैं, वहां शिव की मूर्ति बनाई गई...

"तो हस्तकला को साथ लेकर किसी दिन देख आओ! इसमें खास बात क्या है?" शीना चुप सी रह जाती है, फिर कहती है–"आप को नहीं मालूम? वहां जाने पर पाबंदी है, पिता जी वहां जाने नहीं देते।"

"तुमने पूछा था उनसे?" कुमार पूछता है–"हां, पिताजी ने कहा कि वहां जाने से श्राप लग जाता है–" शीना ने बताया, तो कुमार ने हैरान–सा होकर पूछा–"कैसा श्राप?" "यह तो मैं नहीं जानती..." और शीना ने एक बेचारगी की सी आवाज़ में कहा–"मैं नहीं जानती भाई साहब कि वहां क्या है? सिर्फ मूर्ति का नाम सुना है कि शिव की मूर्ति है, पर कभी कभी..."

"क्या कभी–कभी?" कुमार शीना की ओर देखने लगा...शीना की आवाज़ जैसे उसके गले से अंदर को उतर रही थी, कहने लगी–"वहां कुछ पूजा के फूल पड़े हुए हैं, पता नहीं किसने रखे हैं, पर मुझे कभी कभी लगता है कि उन फूलों की खुशबू मुझे आती है–घबरा कर चारों तरफ देखती हूं–पता नहीं चलता, वह खुशबू कहां से आती है..."

"–अभी तो कह रही थी कि वहां जो फूल पड़े हैं–वहां से आती है..." कुमार ने कहा, तो शीना कहने लगी–'पर यह तो पागलपन है, इतनी दूर से खुशबू कैसे

आएगी...लेकिन...”

“लेकिन क्या?”

“आप मुझे बिलकुल पागल समझेंगे, अगर मैं यह कहूं कि कभी कभी वहां पड़े हुए फूल मुझे दिखाई देते हैं...”

कुमार शीना की ओर देखता कमरे से जाने लगता है–बस, इतना सा कहता है, “लगता है, मैं पागल हो जाऊंगा...”

कुमार राजा साहब के कमरे में जाता है, कुछ परेशान–सा, फिर संभल कर उनसे पूछता है–‘आज आपकी तबियत कैसी है?”

“ठीक है बेटा! तुम आए हो, तो अच्छा लग रहा है...” वह जब यह कहते हैं, तो कुमार उनके पास बैठ जाता है...

राजा साहब पूछते हैं–“तुम्हारा दोस्त यहां खुश है? शाम को कुछ नज़्में पढ़ेगा? बड़ा दर्द है उसकी नज़्मों में...”

कुमार आहिस्ता से कहता है, “वह बहुत परेशान है पिताजी। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा...”

“कैसी परेशानी?” राजा साहब पूछते हैं...“कह रहा था, रात को उसे किसी घोड़े के चलने की आवाज़ आती रही–जो आवाज़ जंगल की तरफ से, इस महल की तरफ आ रही थी...” कुमार ने कहा, तो राजा साहब उसकी ओर देखने लगे, पूछा, “फिर? कुमार ने कहा–“आज दोपहर कुछ सो गया था, उसे लगता रहा कि बाहर नदी में एक नाव चल रही है, जहां से गाने की आवाज़ आ रही है...”

राजा साहब का रंग अचानक जर्द–सा हो गया, कुमार ने उनके हाथों की तरफ देखा, और उनका एक हाथ अपने हाथ में लेता हुआ कहने लगा–“आपके हाथ एकदम ठंडे हो गए हैं–कांपते से...क्या बात है पिता जी?” राजा साहब ने जवाब नहीं दिया, पूछा–“किस के गाने की आवाज़ आ रही थी?”

कुमार ने कहा–“उसे जो सुनाई दिया, उसने कागज़ पर लिख लिया –मैं तो हंस रहा था कि उसने खुद ही सपने में नज़्म लिखी होगी, पर वह कह रहा है–उसने लिखी नहीं, सुनी है।”

राजा साहब खामोश रहते हैं, इसलिए कुमार पूछता है–

“उसे बुलाऊं? आप उससे सुनेंगे?”

“नहीं, नहीं...उसे एकदम वापिस भेज दो –बंबई...वह यहां नहीं रहेगा...” राजा साहब की आवाज़ में अचानक एक तलखी देख कर कुमार खामोश रह गया। फिर सिर्फ इतना कहा–“इतनी मुश्किल से उसे लाया हूं अपने साथ–अब अचानक जाने के लिए कैसे कहूं–लेकिन पिताजी! बात क्या है? उसने किसी को गाते हुए सुना, तो उसकी क्या गलती है?”

राजा साहब आखें बंद कर लेते हैं, और निढाल–से बिस्तर पर लेट जाते हैं, फिर कहते हैं, “गलती उसकी नहीं, बेटा! गलती तकदीर की है...”

“तकदीर की? मैं समझा नहीं, पिताजी!” कुमार कह रहा था, जब राजा साहब ने कहा–“न ही समझो वो अच्छा है। अब समझने से क्या होगा...”

कुमार खामोश रहता है, राजा साहब ही फिर कहते हैं–‘अच्छा, एक दो दिन और देख लो–अगर फिर भी उसे कुछ आवाज़ें सुनाई देती रहीं–तो उसे यहां से ले जाना–

किसी भी बहाने से...”

“आप मुझे और कुछ नहीं बताना चाहेंगे?” कुमार ने अहिस्ता से कहा, तो राजा साहब कहने लगे–“अभी नहीं, शायद किसी दिन...”

“ऐसी क्या बात है, पिताजी!” कुमार ने कुछ आजिजी से कहा तो राजा साहब कहने लगे–“रानी साहिबा जब जिंदा थी, तुम्हारी मां, कभी कभी उसे भी कोई आवाज़ सुनाई देती थी–बाहर नदी से भी, जंगल की तरफ से भी, और उस कमरे से भी–जो तेरी बुआ का कमरा था–”

कुमार कहने लगा–“इतना तो जानता हूं कि बुआ की मौत के बाद वह कमरा हमेशा के लिए बंद कर दिया गया है...” राजा साहब कहने लगे–“वह एक तरह से कत्ल था, बेटे! अब और कुछ न पूछो! मुझे यहां अकेले में रहने दो!” कुमार एक पतला–सा कम्बल राजा साहब पर ओढ़ा देता है, और चुपचाप कमरे से चला जाता है...

कुमार सेतु इकबाल के कमरे में आता है और कुर्सी लेकर बैठता हुआ कहता है–“इकबाल, आज पिता जी की तबीयत कुछ ठीक नहीं है, शाम की बैठक नहीं हो पाएगी, चाहो तो हम लोग कहीं बाहर जा सकते हैं–यहां दूर नज़दीक बहुत खूबसूरत जगह हैं, कुछ प्राचीन मंदिर भी...”

इकबाल पूछता है–“डाक्टर को बुलाया है? उनकी तबीयत ठीक नहीं, तो उन्हें छोड़ कर नहीं जाना चाहिए...”

“नहीं, इतनी खराब नहीं है–अच्छा, अभी यहीं बैठते हैं, मैं कुछ पीने के लिए कह कर आया हूं–थोड़ी–सी ब्रांडी लेते हैं। मेरी तबीयत भी अजीब–सी हो रही है...”

कुमार कहता है और मेज़ पर रखी एक किताब को देखने लगता है...

इतने में नौकर, ब्रांडी विस्की, सोडा लाकर मेज़ पर रख देता है, साथ कुछ नमकीन, कुमार पूछता है–“क्या लोगे? विस्की?”

“नहीं, थोड़ी–सी ब्रांडी, बदन कुछ टूटता–सा है–” इकबाल कहता है और पूछता है–“एक बात समझ में नहीं आती, जब से आया हूं, मौत का साया–सा दीखता है–जो सुना, उसमें भी मौत का जिक्र...नज़्म लिखी थी, उसमें भी...” कुमार सेतु खामोश रहता है। इकबाल अपने ख्यालों में डूबता–उतराता कहता है–“मैंने जो नज़्म लिखी, उसमें भी मौत का जिक्र

ये जेहन की मदहोशियां, ये सुलगती खामोशियां...
तुम जिदंगी की चीख हो या मौत का जमाल हो।

और ...और जो सुना – वह भी–

इस मौत से वाकिफ हैं हम..

“ये क्या हो गया है मुझे!”

“मैं कुछ समझ नहीं पा रहा – ये भी नहीं कि जो आवाज़ें तुम्हें सुनाई दी हैं– वह कहां से आई हैं? –मुझे तो यहां कभी कोई आवाज़ नहीं सुनाई दी...”

कुमार कह रहा होता है, जब नौकर आता है–“छोटे सरकार! आपको बड़े सरकार ने बुलाया है...”

कुमार उठकर चलने लगता है, जब कहता है–"शयद डाक्टर को फोन करना होगा...तुम बैठो! जी चाहता हो तो कहीं बाहर घूम लो।"

राजा साहब कुमार को आते देखकर इतना ही कहते हैं–"एक बार डाक्टर को फोन करके देख लो, अगर वहां है, वह शाम को मरीज़ों को देखने चला जाता है–और सुनो!"

"जी।"

"अब तुम लोगों को कहीं घूमना है, तो जाओ–मगर शीना को मेरे पास भेज दो। कुछ देर मेरे पास बैठेगी...और सुनो!"

"जी!"

"शीना तुम्हारे दोस्त से मिली है?"

"नहीं, पिताजी!"

"अच्छा, मिलवाने की जरूरत नहीं..."

"जी।"

कुमार, नौकर को शीना की तरफ भेजता है–और खुद फोन करने के लिए, बाहर सैक्रेटरी के कमरे में चला जाता है...

फिर थोड़ी देर में लौटता है, शीना वहां बैठी है...

कहता है–"डाक्टर को फोन किया था–लेकिन वह दो दिन के लिए शहर से बाहर गया हुआ है, शायद कल तक आ जाएगा..."

"ठीक है, शीना मेरे पास है, तुम लोग कहीं जाना चाहते हो तो जाओ!"

कुमार फिर पूछना चाहता है–"आप कहें तो किसी दूसरे डाक्टर को बुला लें।

राजा साहब मना करते हैं–"नहीं–नये डाक्टर को क्या पता चलेगा...वह बरसों से मर्ज को जानता है–आ जाएगा कल..."

कुमार सेतु इकबाल के पास लौट जाता है, वहीं थोडी–सी ब्रांडी लेता है – फिर वह दोनों खिड़कियों के पास होकर बाहर नदी में, महल की झिलमिलाती बत्तियों को देखते रहते हैं...अंधोरा कुछ गहराने लगता है, तो बत्तियों की रोशनी नदी के पानी में और गहरी हो कर डूबने–उतराने लगती है...इतने में दो नौकर – कुमार और इकबाल खाना लाकर मेज़ पर रखने लगते हैं...

"आज विस्की बिलकुल नहीं लेंगे?" कुमार पूछता है, तो इकबाल मुस्करा देता है–"नहीं, आज पूरे होश में रहना चाहता हूं कि रात को वह आवाज़ें कहां से आती हैं?"

सुबह होने वाली है, जब कुमार सेतु इकबाल के पास आता है – दरवाजा खुला नहीं है, दस्तक देने लगता है, जब अंदर से बहुत हल्की आवाज़ में, लगता है – इकबाल कोई नज़्म गुनगुना रहा है, कुमार खामोश दरवाज़े के पास खड़ा रहता है, आवाज़ कुछ साफ़ सुनाई देने लगती है–

जानती हूँ–यह गली, अब कत्लगाह को जा रही
मैं फिर भी इसकी राह में, दीए से कुछ जला रही...

तेरे गीत के बदन से भी, तेरी महक आती रही
और हर सुबह एक मौत का, पैग़ाम–सा लाती रही...

फूलों की एक लाश थी, हम कफन–सा बुनते रहे
इस मौत की हिचकी में भी, शहनाई को सुनते रहे...

ओ मेरे अहले कफ़न...ओ मेरे अहले सुख़न...

अचानक आवाज़ रुक जाती है, जैसे गाने वाले को रुलाई आ गई हो...

कुमार हल्की–सी दस्तक देता है, दरवाज़े पर, दरवाज़ा अंदर से बंद नहीं है, इसलिए कुमार अंदर चला जाता है...देखता है–इकबाल दोनों हाथों से अपनी आखें पोंछ रहा है...कुमार घबरा कर पूछता है– “क्या हुआ, इकबाल! अभी तो तुम गा रहे थे...क्या रात को नज़्म लिखी है?”

इकबाल बावरा–सा हंसने लगता है, कहता है–“नहीं–मैं शायद कभी कुछ नहीं लिख पाऊंगा...यह तो उसकी है–”

“किसकी?” कुमार पूछता है–

“यह तो मैं भी नहीं जानता, पर वह रात को गाती रही...”

“कौन?”

“कहा न, मैं नहीं जानता...”

“आज फिर किसी की आवाज़ आई थी?”

कुमार घबरा कर इकबाल के पास बैठ जाता है...

“मैं पूरे होश में सुनता रहा...” इकबाल ने कहा तो कुमार पूछने लगा–‘कोई नदी में था, नाव में?”

“नहीं, इकबाल ने कहा–‘इसी महल के एक कमरे से आवाज़ आती रही...”

“मैं पागल हो जाऊंगा, इकबाल! चलो। यहाँ से चलें। चलो। अभी बंबई चलें।” कुमार कहने लगा...

इकबाल अपनी आज की परेशानी नहीं झेल पा रहा था, बोला–

“तुम मुझे क्यों लाए हो यहाँ? मुझे लगता है...”

“क्या लगता है?” कुमार उसका हाथ पकड़ कर जैसे अपने बदन से सटा लेता है –



इकबाल कहने लगा–“कहते है न, जहाँ मरना होता है, वहाँ की मिट्टी बुलाती है...मुझे लगता है, यहाँ शायद मेरी मिट्टी ने मुझे बुलाया है...”

“यह क्या सोचने लगा है, दोस्त! कुछ ऐसा लगता है, तो चलो अभी वापिस चलते हैं...” कुमार जैसे दीवान से उठने को होता है...

इकबाल उसे फिर अपने पास बैठाते हुए कहता है–“मेरी समझ में नहीं आता कि ये सब आवाज़ें कभी आप लोगों को सुनाई नहीं देतीं, न तुम्हें, न राजा साहब, को न किसी नौकर को, फिर मुझे ही क्यों सुनाई देती हैं?”

“मैं खुद ही समझ नहीं पा रहा– ये क्या हो रहा है...” कुमार अहिस्ता से कहता है।

इकबाल को जैसे कुछ याद आता है, कहता है, मैं शायद कुछ सो गया था, अभी–अभी किसी ने जैसे मेरे पास आ कर कहा – “हयात की कहानी तो बहुत लंबी थी, मगर तेरी जुदाई ने मुख़्तसर कर दी...’ बस इतना ही कहा, और फिर मैं घबराकर उठा, चारों तरफ देखा, कोई नहीं था...यह आवाज भी किसी औरत की थी...”

और इकबाल उठकर कुमार से कहने लगा – “इस वक्त मैं पूरे होश में नहीं हूँ, मुझे कहीं बाहर ले चलो– खुली हवा में–उस पार के जगंल में...”

कुमार, इकबाल को लेकर कमरे से जाने को होता है, जब फिर कमरे में ठहर जाता है–और इकबाल की गर्म चादर लेकर उसके कंधों पर डाल देता है...

वे दोनों–जब कुछ दूर निकल जाते हैं–तो कुमारी शीना दूरबीन लेकर उन्हें देखने लगती है...

वह दिन कुछ खैरियत से गुज़रा। राजा साहब को देखने के लिए डाक्टर आया, बलड प्रैशर देखा, और मश्वरा दिया–कि वह रोज़ गाड़ी में बैठकर, कुछ देर के लिए, बाहर जरूर जाएं। और वह शीना को साथ ले कर गाड़ी में कुछ देर के लिए गए। सिर्फ जब अकेले में हुए तो कुमार को बुला कर पूछा–" क्या हाल है तुम्हारे दोस्त का? उसे फिर तो कोई ऐसा सपना नहीं आया?"– कुमार ने खामोश रहने में ही ग़नीमत समझी, उनसे रात का वाकया नहीं बताया, सिर्फ जब उन्होंने कहा–"आज शाम को मन चाहता है तो यहां बैठ कर कुछ शेअरो–शायरी सुन लें!" तब कुमार ने कहा–

"नहीं, पिताजी! आज नहीं – आज शाम को हम लोग पहाड़ी के दूसरी तरफ़ जाएंगे..."

राजा साहब आज कुछ खुश–से दिखाई देते थे, कुमार से कहने लगे–'जो लोग नहीं रहते, कहते हैं कि अगर वे सपने में आकर कोई चीज़ दे जाएं, तो अच्छा शगुन होता है..."

"हाँ, कहते तो हैं" कुमार ने सिर्फ इतना ही कहा...

राजा साहब कहने लगे–"बहुत सालों के बाद, आज रात को रानी साहिबा को देखा, और उसने अपनी अंगूठी उतार कर मुझे दी कि वह मैं बेटी को पहना दूं। अच्छा शगुन है न!"

"अच्छा है..." कुमार ने आहिस्ता से कहा। राजा साहब कहने लगे – "जिस लड़के के लिए शीना बेटी की थोड़ी–सी बात चली है, वह अच्छे खानदानी घर का लड़का है, हमारी तरह वे लोग भी कभी एक रियासत के मालिक थे। अब वह बात तो नहीं, फिर भी अपनी हैसियत रखते हैं – सोचता हूँ – बात को आगे चलाया जाए – शायद इसीलिए तेरी माँ साहिबा ने अंगूठी दी है शीना के लिए..." कुमार ने दबे लफ़्ज़ों में इतना ही कहा– "शीना से जरा पूछ लें, तो अच्छा है..."

राजा साहब ने कुछ नहीं कहा...

उस शाम कुमार और इकबाल बहुत देर तक बाहर जंगल में, और छोटी–छोटी पहाड़ियों में घूमते रहे...लौट कर खाना भी इकट्ठे खाया, लेकिन कुमार सेतु को अहसास हो रहा था कि रात भारी है...

कुमार बहुत देर तक खिड़की में खड़ा रहा। नदी, और नदी के पार के पेड़ों को देखता रहा। उठकर अंधेरे में थोड़ी–सी भी आहट हो कहीं, सुनने की कोशिश करता रहा। बिस्तर पर करवटें बदलता पड़ा रहा, लेकिन कहीं भी कोई आवाज़ नहीं थी...

सुबह होने वाली थी, जब वह थका–सा उठकर मेहमान खाने में गया। अभी दरवाज़े से दूर था–जब अंदर से एक रुलाई की तरह इकबाल की आवाज़ आ रही थी– एक नज़्म को, विलाप की तरह पढ़ने की...कुमार के सारे बदन में एक कम्पन–सा आ गया, बरामदे की दूसरी तरफ़ देखा–जहाँ इमारत के पत्थरों को सहलाती–सी नदी शांत बह रही थी...

भारी से कदमों को उठाता कुमार सेतु इकबाल के कमरे में दाखिल हुआ, देखा– कमरे की हल्की–सी रौशनी में, कंधों पर एक चादर ओढ़े–खिड़की में खड़ा हुआ इकबाल–जैसे अपनी ही आवाज़ में डूब रहा था–

कभी तो कोई इन दीवारों से पूछे–
कि कैसे इबादत गुनाह बन गई थी

देखा उन्हें तो, ये उनकी नज़र थी
वही तो खुदा की निगाह बन गई थी...

कहानी जो रोज़ेअज़ल से चली थी
कैसे यह जीने की चाह बन गई थी

मेरी जिदंगी थी मुसलसल अंधेरा
वही मौत की एक सुबह बन गई थी...

इकबाल ने कुमार को देखा, पास आया, और बौराई–सी आवाज़ में कहने लगा–"मुझे इस पहाड़ी के दूसरी तरफ़ ले चलो! वहां कोई है, अभी–अभी वह गा रहा था...वहीं होगा अभी..."

कुमार सेतु ने इकबाल को एक तरह से बांहों में भर लिया, लगा–इकबाल की नहीं, उसकी अपनी बांहें काँप रही थीं...बोला नहीं गया...इकबाल की आवाज एक विलाप–सी हो गई थी, कह रहा था–"लगता है, वहाँ मुझे किसी से मिलना है...वह कौन है, पता नहीं, पर कोई है, मेरा, अपना..."

"क्या कह रहे हो!" मुश्किल से कुमार ने इतना कहा, और इकबाल के बिस्तर पर बैठ गया...

इकबाल उसी तरह खड़ा था। अजीब दीवानगी की हालत में, कहने लगा– "कुमार! मुझे लगता है, मैं उसकी आवाज़ पहचानता हूँ–कहीं सुनी हुई है, पता नहीं कहाँ, कब सुनी थी, लेकिन वह आवाज़..."

"अच्छा! चलते हैं" – कुमार मुश्किल से इतना ही कह पाया।

"क्या सोच रहे हो?" इकबाल ने पूछा– "यही कि कोई आवाज़ मुझे क्यों नहीं सुनाई देती–आज रात करीब पूरी रात मैं जागता रहा..." कुमार जैसे कह नहीं रहा था, इकबाल से पूछ रहा था...

अब इकबाल भी खामोश था, कुमार भी..."में अकेला चला जाऊं वहाँ?" इकबाल ने कहा, तो कुमार ने उसका हाथ पकड़ लिया, कहने लगा–"मैं साथ चलता हूँ–लेकिन मुझे एक प्याला चाय मंगवा दो!"

"मैं? मैं कैसे मंगवाऊं?" इकबाल ने कहा, तो कुमार ने दरवाजे के पास वाली दीवार की ओर इशारा किया, कहा वहाँ एक बटन है, घंटी का...ज़रा दबा दो–वहाँ रसोई घर में कोई नौकर होगा..."

इकबाल ने दरवाज़े के पास होकर दीवार को देखा, वहाँ घंटी का बटन था, दबाया, और फिर कुमार के पास आता हुआ कहने लगा–"लेकिन बहुत देर नहीं करना, कपड़े बदलने में–नहीं तो वह कहीं चला जाएगा..." इकबाल कह रहा था, जब कुमार ने सिर उठाया, इकबाल की तरफ़ देखा, उसकी आखें सुर्ख–सी हो रही थीं–जैसे वह अभी–अभी रोता रहा हो...

"अजीब दर्द है उसकी आवाज़ में..." इकबाल कहता–कहता फिर खिड़की की तरफ़ देखने लगा–कहने लगा–"लगता है, वह मुझसे कुछ कहना चाहता है, वहाँ बुलाता है..."

कुमार की छाती में एक खौफ़ पैदा हुआ–कि इकबाल अपने होश में नहीं है

थोडी–सी गर्म चाय लेकर जब कुमार और इकबाल जाने लगे, तो कुमार को लगा–

उसका सारा बदन कांप रहा है, कहने लगा–"जरा ठहरो! मैं एक गर्म चादर ले कर आता हूँ...लगता है मुझे बुख़ार–सा हो रहा है..."

इकबाल कहने लगा–"फिर तुम न जाओ दोस्त! मैं जाता हूँ अकेला..."

"नहीं, मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूंगा.. ज़रा बैठो, मैं अभी आता हूँ", कह कर कुमार इकबाल के कमरे से बाहर आया–और अपने कमरे में जाने लगा...

मेहमान खाना, इमारत के सब कमरों से अलग–सा था, जिसका एक दरवाज़ा दूसरी तरफ़ से इमारत के बाहर के दरवाज़े तक ले जाता था–मेहमान खाने से निकल कर–इमारत के किसी बरामदे से गुज़रने की ज़रूरत नहीं थी...

कुमार सेतु जब मेहमान खाने से निकल कर इमारत के बरामदे से गुज़र रहा था, शीना के कमरे की बत्ती जलती हुई देखी, और देखा – शीना कमरे के दरवाज़े में खड़ी थी, कहने लगी–"भाई साहब! ज़रा मेरे पास आइए।"

कुमार खड़ा हो गया, शीना ने उसका हाथ पकड़ा, कमरे में ले गई, और दीवान की तरफ़ इशारा करती हुई कहने लगी–"ज़रा बैठिये! आप से कुछ कहना है..." कुमार दीवान पर बैठ गया और शीना उसके पास बैठती हुई कहने लगी–"आपने भी मेरी तरह कभी बुआ को नहीं देखा होगा..."

"नहीं..." कुमार ने कहा और शीना की तरफ़ देखने लगा, पूछा–"क्या बात है?"

"आज रात मैंने उन्हें देखा...'" शीना इतनी घबराई हुई नहीं थी, जितनी कुछ हैरान—सी थी...

"कहाँ देखा ?" कुमार को लगा — ये कयामत की घडी थी...

"वहीं, गुफ़ा वाले मंदिर में, जहाँ मुझे कभी जाने नहीं देते..." शीना ने कहा...

"तुम रात को मंदिर में गई थी? कैसे? किसके साथ?" कुमार को लगा — उसके होश खो रहे थे...

शीना ज़रा खुश—सी, कुमार के कंधों से लग गई, कहने लगी —"सपने कहीं भी ले जाते हैं...वहाँ मंदिर मं बुआ थीं, पूजा में थी..."

कुमार ने शीना को अपनी बांहों में ले लिया, कहने लगा –

"पगली! तुम बात करती थी — वहां जाने की, इसीलिए सपना आया होगा...

शीना कुछ खामोश रही, फिर कहने लगी —"अब आप पूछेंगे कि वहाँ मैंने बुआ को कैसे पहचाना? उन्हें कभी देखा ही नहीं था..."

"हाँ, ये तो पूछने की बात है..." कुमार ने कहा, तो शीना बोली–'मैं खुद नहीं जानती, कैसे पहचाना, किसी ने मेरे अंदर से ही कहा था, ये बुआ हैं। उन्होंने भी मेरी तरफ़ देखा तो मुस्करा दीं, बड़े प्यार से–"

कुमार शीना की तरफ़ देखता रहा, फिर पूछा–"उन्होंने कोई बात की?"

"नहीं, बात नहीं की, लेकिन शिव की मूर्ति के सामने, एक बहुत बड़ा फूल था, जर्द रंग का, बुआ ने उसे पकड़ा और मुझे दे दिया–" शीना ने अपना हाथ कुमार सेतु के पास ने जाते हुए कहा–"इस हाथ में मैन फूल लिया था, बहुत खुशबू थी—देखो, अभी तक मेरे हाथ से वह खुशबू आती है —" कुमार ने शीना का हाथ को होठों के पास किया, नाक के पास किया, कहने लगा – "नहीं तो — फूल की खुशबू नहीं है।" शीना ने अपना हाथ सूंघ कर कहा —"कैसे कहते हो, नहीं है, देखो। इतनी तेज. खुशबू आती है..."

"लगता है — कोई और नहीं, मैं पागल हो जाऊंगा..." कुमार ने अपने दोनों हाथों में अपना सिर थाम लिया...

शीना एक मिन्नत की तरह कहने लगी—"भाई साहब! मेरी एक बात मान लोगे?"

"क्या?" कुमार ने पूछा, तो शीना की आवाज़ में कोई संकोच नहीं था, कहने लगी–"मैं आप के दोस्त को पास से देखना चाहती हूँ, एक बार..."

"क्यों?" कुमार ने पूछा, तो शीना कहने लगी–"दूर से देखा है. आप लोग जब बाहर जाते थे, तो मैं दूरबीन से देखती थी, लेकिन कल रात जब मैं मंदिर के बाहर आई, तो वहाँ घोड़े पर सवार कोई आया था, शा्यद मंदिर में जाने के लिए। उसे देखा, तो पहले कोई अज़नबी लगा, फिर लगा—वह आप का दोस्त है—वही आप का शायर दोस्त..."

कुमार घबरा कर दीवान से उठ खड़ा हुआ, कहने लगा–"तुम पागल हो गई हो—और मैं पागल हों जाऊंगा..." शीना ने फिर कुमार का हाथ पकड़ा और दीवान पर बैठाती हुई कहने लगी—"एक बात कहूं? उसकी आवाज़ में पता नहीं क्या है, जब बड़े कमरे में उसने नज़्मे पड़ी, मैं आवाज़ सुनती रह गई, इस तरह कि कोई लफ्ज़ मेरी पकड़ में नहीं आया, मैं आवाज़ में खो गई थी...आप जब मेहमान खाने में बैठते, वह नज़्म पढ़ता, तब भी मैं सिर्फ आवाज़ सुनती थी—इसीलिए दो बार, जब आप लोग चले गए, मेहमान खाना तो खुला था, मैं वहाँ जा कर, वह नज़्म के कागज़ उठा लाई थी...' "अरे! हम लोग सोचते रहे कि वे कागज़ कहाँ चले गए—कमरे में कहीं नहीं मिले थे..." कुमार ने शीना क़ी तरफ़ देखा, तो वह कहने लगी—"मेरे पास पड़े हैं—ला दूँ?"

"नहीं, अभी रहने दो! क्या कहूंगा उसे कि कहां से मिले" — कुमार ने कहा और उठकर जाने लगा। उस वक्त शीना ने एक इल्तजा की तरह कहा— 'मुझे एक बार उसे देखना है, देखना चाहती हूँ कि वह जो घोड़े से उतर कर मंदिर में जाने लगा था, वह कौन था? एक झलक मैं लगा कि आपका दोस्त है, इसीलिए पहचानना चाहती हूँ.."

"अच्छा" कह कर कुमार बौराया–सा, शीना के कमरे से चला गया। वह अपने कमरे, में जाकर एक गर्म चादर निकाल कर फिर मेहमान खाने की तरफ़ जाने लगा था, जब एक नौकर आया, कहने लगा —"बड़े सरकार ने आप को याद किया है..."

राजा साहब बहुत बेचैनी की हालत में अपने पलंग पर बैठे थे, कुमार सेतु आया, तो घबराये—से कहने लगे– "यहां बैठो! मेरे पास..."

कुमार उठकर पलंग की पाटी पर बैठ गया, तो कहने लगे—"मेरे सामने बैठो, वह कुर्सी इधर कर लो। आज मैं तुम्हें कुछ बताना चाहता हूं" — कुमार ने पास की कुर्सी पलंग के नज़दीक कर ली। राजा साहब ने कहा —"मुझे ठीक–ठीक बताओ! बेटे! यह जो तुम्हारा दोस्त है, कौन है?"

कुमार ने कहा— 'बस, इतना ही जानता हूँ पिताजी कि वह एक शायर है, बहुत अच्छा शायर, वहां बम्बई में वर्ली इलाके में एक बहुत छोटे–से फ्लैट में रहता है। समुन्दर के किनारे। और अपनी खिड़कियों से समुन्दर को देखता रहता है..."

राजा साहब ने पूछा —"और क्या जानते हो?"

कुमार ने कहा—"और बस इतना ही कि नौकरी नहीं करता, नौकरी करना उसे अच्छा नहीं लगता, और अपनी गुज़र–बसर के लिए दो एक ट्यूशन कर लेता है। उसका कहना है कि इससे ज्यादा पैसे उसे नहीं चाहिए—फकीराना तबीयत है..."

राजा साहब ने पूछा—"उसे फिर कोर्द आवाज़ सुनाई दी है?"

कुमार कुछ देर खामोश रहा, पर लगा—कि सब कहना होगा। फिर भी कुछ संभल

गया, पूछने लगा —“आप कुछ बताने लगे थे”—

राजा साहब अपने हाथों को देखते हुए कहने लगे —“आज रात लगा — जैसे कयामत की रात थी, मैनें अपने को पच्चीस साल पहले की उम्र में देखा, और देखा–कि मैं उस सामने वाली पहाड़ी से नीचे उतर रहा हूँ — बहुत तेज़ी से — फिर देखा कि मेरे हाथ खून में भीगे हुए हैं...शायद हाथों को पोंछने की कोशिश की थी — कि देखा–मेरी कमीज़ पर खून के बड़े–बड़े दाग़ हैं...और मैं घबराया हुआ, कहीं पानी खोज रहा हूँ — हाथ धोने के लिए...”

कुमार के सारे बदन में एक कंपन उतर गया पर उसने अपनी आवाज़ को संभाला, और पूछने लगा —“उस पहाड़ी के पीछे दूसरी तरफ़ क्या है, पिताजी?”

“वहाँ?” राजा साहब कुछ कहते–कहते ख़ामोश हो गए, और कमरे की दीवार की तरफ़ ऐसे देखने लगे — जैसे दूर कहीं बीते हुए वक्त को देख रहे हों। कहने लगे —“वही सब आज तुम्हें बताना होगा...किसी दिन तो बताना ही था — वहाँ...पहाड़ी पर से किसी की लाश गिरायी गई थी — लेकिन वह मैं नहीं था जिसने गिराई, वह बड़े राजा साहब का ख़ास आदमी था...”

“पिताजी।” कुमार के होठों पर उसकी गिरती पड़ती आवाज आई —“कल रात मेरे दोस्त को, उस पहाड़ी के पीछे से, किसी की आवाज़ आई — जो विलाप की तरह कुछ गा रहा था...”

राजा साहब की आवाज़ कांप गई—“मैं ठीक सोचता था, यह तुम्हारा दोस्त वही है...वही...”



“वही कौन?” कुमार ने आहिस्ता से कहा, तो राजा साहब बौखलाए हुए कहने लगे

‘ वही, जिसकी लाश पहाड़ी पर से गिराई गई थी...” कुमार परेशान–सा राजा साहब की ओर देखता रहा — फिर कहने लगा— ‘वह कौन था?”

“यह मैं ठीक से नहीं जानता, बेटे! शायद कोई भी नहीं जानता था— लेकिन कुमारी उर्मिला के पीछे दीवाना था...” राजा साहब ने कहा — तो कुमार ने पूछा —“बुआजी?...एक दिन आपने कहा था कि यहां उर्मिलाजी का कत्ल हुआ था...”

“उसका कत्ल किसी ने नहीं किया था—सिर्फ उर्मिला को कमरे में एक तरह से बंद कर दिया गया था, सख्त पहरे में...उसने खुद ही...” राजा साहब कहीं दूर बीते में खो गए, कहने लगे—“वह मेरी एक ही बहन थी, बहुत प्यारी...अब भी याद आती है तो...”

“और वह...जो उनसे प्यार करता था ?...” कुमार ने झिझकते हुए पूछा तो राजा साहब कहने लगे—“पता नहीं उर्मिला उसे कहां मिली? कैसे? शायद किले के उत्सव के वक्त — या शायद किसी मंदिर में—वह खुद नाव में बैठ कर, कहीं दूर चली जाती थी — और वह शायद जंगल के पार से, घोड़े पर आता था...”

“फिर?” कुमार ने पूछा तो राजा साहब कहने लगे—“बड़े राजा साहब को पता चल गया था, कुछ आदमी भी पीछे लगाए थे, इसलिए उर्मिला को कमरे में रखा गया, पहरे में, और जब एक दिन वह उसे खोजता हुआ इस महल के करीब आया, तो बड़े राजा साहब ने उसे गोली मार दी थी...” “मैंने एक बात आपसे कही नहीं थी...“ कुमार ने कहा, और सकुचाती—सी आवाज़ में बोला —“मेरे दोस्त को उस बंद कमरे से किसी के गाने की आवाज़ आती रही—परसों रात—उसने सारे लफ्ज़ कागज़ पर लिख लिए— और खुद रोने लगा और गाने लगा...”

राजा साहब ने तकिये के नीचे से अपने पिस्तौल को निकाला, कहा—“शायद किस्मत को यही मंजूर है कि मेरे हाथों उसका कत्ल...” “पिताजी!” कुमार कुर्सी से उठ खड़ा हुआ, ज़ोर से कहने लगा—“नहीं, यह नहीं होगा...मैं नहीं होने दूंगा...”

“बैठो!” राजा साहब ने कहा–“मैंने रात को अपने हाथ खून में भीगे हुए देखे हैं— लेकिन मैंने तो उसका कत्ल नहीं किया था...ये जरूर एक इशारा था कि मेरे हाथों अब किसी का कत्ल होगा...” राजा साहब कह रहे थे, जब कुमार तेजी से उठा, और राजा साहब के हाथों से पिस्तौल लेकर कहने लगा—“आप यह नहीं सोचते कि अपने हाथों पर जो खून देखा है, वह आपको विरासत में मिला है?”

“क्या?” राजा साहब कुमार की ओर देखते रह गए...कुमार ने कहा —“उस कत्ल का खून तो बड़े राजा साहब के हाथों पर लगा था, जिन्होंने गोली चलाई थी...अगर दौलत विरासत में मिलती है, तो हाथों का खून भी विरासत में मिल सकता है...”

राजा साहब के होठों से इतना ही निकला–“बेटे!”

कुमार सेतु ने जल्दी से कहा —“क्या आप चाहते हैं कि यह खून विरासत में मुझे भी मिले? मेरे हाथों पर भी लगे? अगर आप कत्ल करेंगे. तो यह विरासत में मुझे मिलेगा...” राजा साहब कुमार को देखते रह गए। फिर एक बेबसी में कहने लगे—“ तो मैं क्या करूं?”

कुमार खामोश था, जब राजा साहब ने कहा—“तुम यह मानते हो कि तुम्हारे दोस्त की सूरत में उसी का जन्म हुआ है?”

कुमार ने एक संजीदगी से कहा—“आपे खुद कहा था—वही है—वही—”

राजा साहब कहने लगे—“जब उर्मिला नहीं रही—एक साल के बाद ही कुमारी शीना पैदा हुई थी, वह जैसे–जैसे कुछ बड़ी होती गई, रानी साहिबा कहती थी—कि

हमारे घर में फिर से उर्मिला ने जन्म लिया हैं—वहीं नयन—नवा, वहीं सूरत—तब...”

राजा साहब खामोश से हो गए तो कुमार ने पूछा —“तब क्या हुआ था?”

“तब बड़े राजा साहब भी जिंदा थे, वह कुमारी शीना को देख बेचैन हो जाते थे, कहते थे कि यह उर्मिला है...”

“फिर?” कुमार ने पूछा—

“फिर उर्मिला की जितनी भी तस्वीरें थीं, वह सब फाड़ दी गई कि शीना और बड़ी होकर उसे पहचान लेगी...”

कुमार इस हालत में भी कुछ मुस्करा दिया, कहने लगा—“कल रात शीना को वह मिली थीं...”

“कौन?”

“कुमारी उर्मिला जी...”

“क्या?” राजा साहब इतने घबरा गए कि कुमार ने उन्हें बिस्तर पर लिटा दिया, कहने लगा—“पहाड़ी के पीछे एक गुफा है, जिसमें शिव जी की मूर्ति है...”

“हां, वहीं तो उर्मिला जाया करती थी, लेकिन शीना कैसे गई वहां? वहां जाने पर तो सख्त पाबंदी थी उस पर...” राजा साहब फिर उठने की कोशिश में, बिस्तर से गिर गए...

“गई थी—सपने में, वहां उसे उर्मिला जी मिलीं—कुमार कह रहा था, जब राजा साहब बोल उठे —“नहीं, यह नहीं हो सकता, शीना ने कभी उसे देखा नहीं, तस्वीर भी नहीं देखी, अगर उसकी आत्मा वहां थी, तो कैसे पहचान पाई?”

कुमार ने आहिस्ता से कहा—“यह रहस्य पकड़ में नहीं आते, पिताजी!”

राजा साहब खौल—से गए—“बुलाओ शीना को।” फिर खुद ही कहने लगे —“रहने दो! क्या कहूंगा—क्या पूछूंगा...”

कुमार कहने लगा —“उर्मिला जी पूजा में थीं, उन्होंने शीना को देखा, फिर शिव जी के आगे पड़ा हुआ पूजा का फूल उसे दिया...”

राजा साहब एक चीख की तरह बोले—“क्या कह रहे हो? यह सब क्या है?”

“मैं खुद नहीं जानता, पिताजी! पर लगता है—”कुमार कह रहा था जब राजा साहब बौखलाए से बोले—“क्या लगता है?”

“राजा साहब खामोश–से हो गए, तो कुमार ने कहा—“वहां जो कुछ शीना ने देखा, अभी उसने मुझे बताया है, जब आपने मुझे बुलाया, मैं शीना के कमरे में था...”

राजा साहब निढाल–से पड़े पूछने लगे—“क्या बताया है?” कुमार ने कहा, “फिर वहां मंदिर के बाहर कोई आया, घोड़े पर, शीना ने उसे देखा, पहचाना नहीं, फिर देखते–देखते उसकी सूरत बदल गई। उसने देखा—वह घोड़े पर आने वाला इकबाल है, मेरा दोस्त...”

राजा साहब की आवाज़ जैसे टूट–सी गई थी, कहने लगे—“मैंने मना किया था कि शीना तुम्हारे दोस्त से नहीं मिलेगी...उसे नहीं देखेगी...” वह नहीं मिली, पिताजी। उसने देखा भी नहीं—सिर्फ दूर से देखा था, दूरबीन से, जब हम लोग बाहर जाते थे,...आप तो जानते हैं कि उसे दूरबीन से देखने की आदत है...”

“यह वही है—वही...दोनों वही हैं...” राजा साहब की आवाज़ कांपती हुई जैसे टूट रही थी। बोले—“अब तुम बताओ! मैं क्या करू?” कुमार कुछ देर खामोश रहा, फिर कहने लगा—“वही जो आपको रानी साहिबा ने कहा है...वह जो अंगूठी दे गई हैं,

अपनी, वही मां की अंगूठी बेटी को पहना दीजिए!"

"राजा साहब का सारा बदन कांपने—सा लगा। अपने कंबल को अपने पर लिपटाते—से कहने लगे—"शायद वह श्राप इसी तरह उतरेगा..."

कुमार खामोश खड़ा रहा। राजा साहब ने एक आदेश की तरह कहा—"तुम जाओ! उन दोनों को उसी मंदिर मे ले जाओ! वहां पूजा करो...रानी साहिबा के ज़ेवरात अलमारी में पड़े हैं यह चाबी ले लो। वही बड़ी अंगूठी निकाल लो—और मंदिर में जाकर शीना को पहना दो!"

अक्षरों के साये—2

अक्षर—जो कागज़ो पर उतरते रहे, वे सबके सामने हैं—इसलिए मुझे और कुछ नहीं कहना, पर थोड़ी—सी बात उन अक्षरों की करनी है—जो आवाज़ में उतरते रहे—

इसका पहला अनुभव मुझे लाहौर रेडियो से कई बार बोलते समय हुआ—जब सुनने वाला कोई सामने नहीं होता, और बोलने वाला उनसे मुख़ातिब होता है—

1947 में जब लाहौर छूट गया, तो दिल्ली रेडियो में मुझे रोज़ शाम को पंजाबी प्रोग्राम पेश करने का काम मिला। तब भी वही अहसास था कि जो अक्षर आवाज़ में उतर जाते हैं—वे कहीं बहती हुई हवा में मिल जाते हैं...यह अहसास ख़ास कर हफ्ते में एक दिन—तब होता, जब मैं रेडियो सुनने वालों के खतों का जवाब देती थी, उनकी सूरत कहीं दिखाई नहीं देती थी— और हर बार उनके प्रश्नों का उत्तर देने से पहले कहती थी— आवाज़ की दुनिया के दोस्तो!

वैसे तो अक्षर जब कागज़ पर उतरते हैं, उन्हें पढ़ने वाला भी कोई सामने नहीं होता, लेकिन आवाज़ की बात थोड़ी–सी मुख़्तलफ होती है—सुनने वाले की हाज़िरी कुछ करीब—सी लगती है...

सुनने वालों के सामने बोलने का जब वक्त आया था, लाहौर में, पटियाला में और फिर दिल्ली में—तब किसी भी मुशायरे में कोई नज़्म बोलना मुझे अच्छा नहीं लगा। तब सुनने वाले सामने होते थे—लेकिन मुझे अहसास होने लगा था कि इस हाज़िरी से सुनने वालों का गैर हाजिर रहना कहीं अच्छा है। यही वजह थी कि मैं किसी मुशायरे में जाने से कतराने लगी...अहसास हुआ कि एकांत में जब अक्षरों के साये कागज़ पर उतरते हैं—वही मेरी तस्कीन बनते हैं...

स्याह ताकतों के साये

वैसे तो जब से लिखने लगी थी, मेरी मुखालफत दबे पांव मेरे साथ चल रही थी, लेकिन जब 1983 में भारतीय ज्ञानपीठ का सम्मान मिला—मेरे गिर्द बहती हुई हवा ज़हरीली होने लगी—सम्मान के समय—मेरे कहे हुए अल्फाज़ थे—"दोस्तो! याद आता है कि जब मैं बहुत छोटी थी, नानी अक्सर कहा करती थी—अरी, जब तू पैदा हुई, वर्षा ऋतु में, पन्द्रह भादों को, तब देवता सो रहे थे। मैंने बाद में जाना—कि शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म, ये तीन ऋतुएं देवताओं का दिन होती हैं, जब देवता लोग जागते रहते हैं, लेकिन वर्षा और हेमन्त तीन ऋतुएं उनकी रात होती हैं, जब देवता लोग सोये रहते हैं...

लगता है—मैं सारी जिंदगी जो भी सोचती रही, लिखती रही, वह सब देवताओं को जगाने का प्रयत्न था, उन देवताओं को, जो इन्सान के भीतर सो गए हैं..."

और जब आए दिन धर्म के नाम पर मेरी मुखालफत बढ़ने लगी—फौजदारी मुकदमे का नोटिस भी आ गया—तो एक दोस्त थे, जो हंस कर कहने लगे—"आपने जो देवताओं को जगाने की बात कही थी, लगता है वह देवताओं ने तो नहीं सुनी, स्याह ताकतों ने सुन ली, और वे सिर उठा रही हैं..."



स्याह बादल घिरने लगे—आए दिन कोई न कोई बिजली गिरने लगी। उन दिनों भी तड़प कर मेरे मुंह से निकला—"लेकिन मेरे भीतर से जब भी जागेंगे, देवता ही जागेंगे..."

उन्हीं दिनों एक नज़्म कही थी—

–

आसमान के महलों में मेरा सूरज सो रहा है
जहां—कोई द्वार नहीं, कोई खिड़की नहीं
और सदियों के हाथों ने
जो पगडंडी बनाई .है—
वह मेरी सोच के पैरों के लिए
बहुत संकरी है...

यह सब मेरी उस नज़्म को लेकर होने लगा था—जो मैंने—अपने नानक के जन्म पर उनकी माता तृप्ता के 'नौ सपने' लिखी थी...

यह सब जब हो रहा था—दिल वाले लोग कहीं थे—जिनमें से एक राज गिल हैं, जिन्होंने कई चिंतनशील साहित्यकारों के दस्तख़त करवा कर एक लंबा मज़मून लिखा था—मेरी नज़्म की हिफाजत के लिए। कुछ दिनों बाद लाहौर से अहमद सलीम आए,

जो वक्त के माने हुए शायर और लेखक हैं, और जब राज गिल से मिले, राज गिल ने उन्हें वह अखबार दिखाया जिसमें उनका मज़मून प्रकाशित हुआ था, तो अहमद सलीम कहने लगे—"राज गिल जी! आपने इतने दस्तखत करवाए, लेकिन सब से बड़े अदीब के दस्तखत करवाना भूल गए..."

राज गिल हैरान हुए, कि किसके दस्तखत करवाना भूल गए, तो अहमद सलीम ने कहा—"आप गुरु नानक के दस्तखत करवाना भूल गए..."

यह पूरा वाकया, बाद में अहमद सलीम की किताब 'सफरनामा' में शाया हुआ था, लाहौर में...

कहते हैं—जब मिर्जा गालिब पर बहुत कर्ज हो गया, तो दावेदारों ने उन पर मुकद्दमा कर दिया। वहां अदालत में खड़े हुए मिर्जा गालिब ने एक शेर पडा था—

कर्ज की पीते थे मय,
लेकिन समझते थे कि हां
रंग लाएगी—हमारी
फाकामस्ती एक दिन...

और अपने समकालीनों की नाराजगी से जब मैं अदालत में खड़ी थी, गालिब याद आए, पर समझ में नहीं आ रहा था कि मैं किसकी कर्जदार हूं...लगा—शायद तकदीर की कर्जदार हूं...

दूसरी तरफ—मुल्क के हालात बिगड़ते जा रहे थे—जगह–जगह से कल्लो–खून की वारदातें होने लगी थीं। पंजाब जल रहा था। आसाम में भी हालात अच्छे नहीं थे— और कश्मीर के लोग अपने ही वतन में जलावतन होने लगे...

इंदिराजी का कल्ल और दिल्ली में हजारों बेगुनाहों का कल्ल ऐसी घटनाएं थीं—जिनसे आस्मान स्याह हो रहा था...

1986 के शुरू में जब देश के हालात को देखते हुए— सब प्रांतों के चीफ मनिस्टरों की मीटिंग बुलाई गई, दो–तीन लोग वे भी बुलाए गए जो सियासत में नहीं थे, उनमें मैं भी थी। और जब मुझे वहां कुछ बोलने के लिए कहा गया, तो भरी आंखों से जो कहा, उसके कुछ अल्फाज थे—

"हमारे विवेकानन्द जी जब भारत के दक्षिण में गए—देखा कि छोटी जाति वालों से कोई, किसी बड़ी जाति वाले के करीब से गुज़र जाए, तो उसकी छाया पड़ने से उसे कड़ी सज़ा दी जाती है, तो विवेकानन्द जी ने तड़प कर कहा था—"यह केरल भारत का पागलखाना है— और आज मैं भरी आखों से कहना चाहती हूं कि हम अपने हर प्रांत को भारत का पागलखाना बना रहे हैं..."

उस समय यह भी कहा थ—"एक वक्त था, जब देवताओं ने सागर मंथन किया था —और चौदह रत्न प्राप्त किए गए। कहना चाहती हूं—आज हमें फिर से सागर मंथन करना है, और पन्द्रहवां रत्न पाना है— अपनी आचरण—शक्ति का रत्न।"

उसी साल मई के महीने में जब मुझे राज्य सभा में नामज़द किया गया तो मध्यप्रदेश, गुजरात, केरल और आसाम जैसे दूर–दूर के प्रांतों से मुझे बुलाया जाने लगा

—कुछ कहने के लिए...बाद में उन तकरीरों से 71 तकरीरें चुन कर एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी—'मन मंथन की गाथा'—जिसमें तारीखें दी हुई हैं। इसलिए यहां सिर्फ थोड़े से अंश दे रही हूं उन तकरीरों के, और पत्रकारों के सवालों के जवाब में जो कहा था—उनमें से भी थोड़े से अंश—

पांडव काल में वीरानियों और जंगलों में घूमते हुए, प्यास से व्याकुल नकुल ने जब पानी का झरना खोज लिया और तड़पते होठों से पानी को जल्दी से पी लेना चाहा, तो पानी की आत्मा ने कुछ प्रश्न किए थे और कहा था—नकुल! मेरे सवालों का जवाब दिए बिना पानी को मत छूना, नहीं तो मूर्छित हो जाओगे!

लेकिन नकुल का मन अपनी प्यास से जुड़ा हुआ था, पानी की आत्मा से नहीं। उसने प्रश्न सुने, जवाब नहीं दिया, पानी पी लिया, और वहीं पानी के किनारे गिर गया।...इसी तरह भीम, अर्जुन और सहदेव भी बारी–बारी से आए, पानी को देखा और जल्दी से पानी पी लिया। पानी की आत्मा ने जो प्रश्न पूछे, उनका जवाब नहीं दिया और बारी–बारी से मूर्छित होकर पानी के किनारे पर गिरते गए...अंत में युधिष्ठिर आए, उन्होंने पानी की आत्मा के प्रश्न सुने और हर प्रश्न का जवाब अपने कर्म में से खोजकर दिया। और जब पानी की आत्मा संतुष्ट हो गई तो युधिष्ठिर ने वरदान मांगा कि उनके सब भाईयों की मूर्छना टूट जाए…

हम लोग 1947 में 15 अगस्त की रात को, जब गुलामी के जंगल में भटकते हुए, जिल्लत के कांटों से ज़ख्मी हो चुके अपने देश की स्वतंत्रता के दरवाज़े तक पहुंच गए तो स्वतंत्रता की आत्मा ने हमसे भी सात प्रश्न किए :

पहला प्रश्न था—स्वतंत्रता लफ्ज़ का ज्ञाता कौन है?
दूसरा प्रश्न था—स्वतंत्रता का अधिकारी कौन होता है?
तीसरा प्रश्न था—क्या सत्ता आत्मशक्ति होती है?
चौथा प्रश्न था—क्या सत्ता और स्वतंत्रता का कोई आत्मिक संबंध होता है?
पांचवां प्रश्न था—क्या स्वतंत्रता भिक्षा की तरह ली या दी जा सकती है?
छठा प्रश्न था—क्या स्वतंत्रता छीनी या लूटी जा सकती है?
और सातवां प्रश्न था— क्या आचरण की शक्ति के बिना स्वतंत्रता धारण की जा सकती है?

हम सब जानते हैं कि स्वतंत्रता की आत्मा ने हमसे जितने भी सवाल पूछे, हमने किसी का जवाब नहीं दिया। हम जल्दी से सब कुछ भोग लेना चाहते थे। जिसको जितना मौका मिला, किसी भी अधिकार से या किसी भी पदवी से, उसने उतना ही ज़्यादा भोग लेना चाहा है। और जिसको नहीं मिला, उसने किसी भी अधिकार को, सत्ता को मांग लेना चाहा, लूट लेना चाहा...

और आज हम सभी एक मूर्छित अवस्था में जी रहे हैं...

मेरी नज़र में पाण्डव, पांच तत्व, हमारे ही शरीर की पांच शक्तियां हैं ओर जिनमें चार पाण्डव नकुल, भीम, अर्जुन और सहदेव हैं, तो पांचवां युधिष्ठिर भी हमारे अन्तर में है—जो इन सवालों के जवाब दे सकता है...इसी हमारे भीतर के युधिष्ठिर की वर्तमान की आवाज़ को सुनना है, समझना है और उस आवाज़ के हर सवाल का जवाब देना है—अपने चिंतन से— अपने कर्म से।

आपको याद होगा कि पाण्डव काल में जब पानी की आत्मा ने कहा था— युधिष्ठिर! यह बताओ कि सूरज किस चीज़ से सम्मानित होता है ओर किस चीज़ में अपमानित होता है?— तो युधिष्ठिर ने जवाब दिया था—सूरज इंसान के आचरण में, उसके अखलाक में सम्मानित होता है और इंसान की बदअखलाकी में अपमानित होता है।

आज मैं यही कहना चाहती हूं, एक बहुत बड़ी हसरत से कि मैं अपने देश में सूरज को सम्मानित होते देखना चाहती हूं…

हम नहीं जानते कि कोई अपने हाथ में पत्थर उठाता है
तो पहला ज़ख्म इंसान को नहीं, इसानियत को लगता है।
धरती पर जो पहला खून बहता है,
वो किसी इंसान का नहीं होता, इंसानियत का होता है।
और सड़क पर जो पहली लाश गिरती है,
वह किसी इंसान की नहीं होती, इंसानियत की होती है...
फिरकापरस्ती, फिरकापरस्ती है।
उनके साथ हिन्दू, सिक्स या मुसलमान लफ्ज़ जोड़ देने से कुछ नहीं होगा।
अपने आप में इन लफ्ज़ो की आबरू है।
इनका अर्थ है, इनकी एक पाकीज़गी है...
लेकिन फिरकापरस्ती के साथ इनका जुड़ना,
इनका बेआबरू हो जाना है...
इनका अर्थहीन हो जाना है,
और इनकी पाकीज़गी का खो जाना है
जो कुछ गलत है, वह सिर्फ एक लफ्ज़ में गलत है,
फिरकापरस्ती लफ्ज़ में।
उस गलत को उठाकर हम कभी,
इसे हिन्दू लफ्ज़ के कधों पर रख देते हैं,
कभी सिक्स लफ्ज़ के कंधों पर,
और कभी मुसलमान लफ्ज़ के कंधा पर।
इस तरह कंधे बदलने से कुछ नहीं होगा।
जहां जो कुछ गलत है उसे समझना होगा।
जझूरियत का अर्थ, लोकशाही का अर्थ,
चिन्तनशील लोगों का मिलकर रहना है, मिलकर बसना है,
और चिन्तनशील लोगों के हाथ में तर्क होते हैं, पत्थर नहीं होते...

बात चाहे सियासत की हो, या मज़हब, या समाज और साहित्य की, उन सब में दो ही तरह के लोग होते हैं— एक—जो अक्षरों को प्यार करते हैं और एक—जो अक्षरों का व्यापार करते हैं—

हमारे देश के इतिहास में राणा प्रताप एक ऐसा नाम है—
जो सिर्फ इतिहास के कागज़ पर नहीं लिखा गया—

वह लोगों के दिलों पर लिखा गया...
राणा प्रताप की बहादुरी सिर्फ शारीरिक बल नहीं था...
वह आत्मिक बल था...जिसने पूरे मेवाड़ को एक किरदार दिया, इखलाक दिया, गौरव दिया...

इसलिए मैं राणा प्रताप की धरती को अपना प्यार और आदर पेश करती हूं...और इस धरती के खुद्दार लोगों से आज बात करना चाहती हूं। आज जो हमारे देश की हालत है, हम जिस दौर से गुजर रहे हैं—उसकी बात करना चाहती हूं—

आज मज़हब के नाम पर जितना कल्लो–खून हुआ–वह हमारे देश की स्वतंत्रता का बहुत बड़ा उलाहना है हम पर—और इन्हीं हालात में यह नया साल आया—ऐसे

जैसे रातों की नींद ने अपनी अंगुलियां में
सपने का एक जलता हुआ कोयला पकड़ लिया हो...
जैसे दिल के फिकरे से कोई अक्षर मिट गया हो
जैसे विश्वास के कागज पर स्याही बिखर गई हो
जैसे समय के होठों से एक ठण्डा सांस निकल गया हो
जैसे आदमज़ात की आखों में एक आंसू भर आया हो
नया साल कुछ ऐसे आया...
जैसे इश्क की ज़बान पर एक छाला उभर आया हो
जैसे सभ्यता की कलाई से एक चूड़ी टूट गई हो
जैसे इतिहास की अंगुली से एक मोती गिर गया हो
जैसे धरती को आसमान ने एक बहुत उदास खत लिखा हो नया साल कुछ ऐसे आया...

मैं साल मुबारक किससे कहूं? किससे कहूं?
अगर कोई हो—
इल्म के सूरजवंशी जैसा, कलम के चन्द्रवंशी जैसा
तो मैं साल मुबारक किससे कहूं.. मैं साल मुबारक किससे कहूं? अगर कोई हो—
इस मिट्टी की रहमत जैसा, इस काया की अज़मत जैसा
मैं साल मुबारक किससे कहूं...मँ साल मुबारक किससे कहूं? अगर कोई हो—
मन सागर के मंथन जैसा और मस्तक के चितंन जैसा
मैं साल मुबारक किससे कहूं...मैं साल मुबारक किससे कहूं? अगर कोई हो—
धर्म लफ्ज़ के अर्थों जैसा, कर्म लफ्ज़ के अर्थों जैसा

मैं साल मुबारक किससे कहूं...मैं साल मुबारक किससे कहूं?

धर्म तो मन की अवस्था का नाम है—उसकी जगह मन में होती है, मस्तक में होती है और घर के आंगन में होती है। लेकिन हम उसे मन–मस्तक से निकाल कर और घर आंगन से उठाकर बाज़ार में ले आए हैं।

अगर देश की मिट्टी का धर्म समझ लिया जाए तो अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के टकराव का सवाल ही पैदा नहीं होता। कोई एक अकेला भी मिट्टी को उतना ही प्यारा

होता है, जितने हज़ारों या लाखों।

अगर यह नहीं समझा गया तो हमारे देश की मिट्टी अल्पसंख्यक के खून से भी रो उठेगी और बहुसंयश्क के खून से भी। खून तो खयालों को रोशनी देने के लिए होता है। सुर्ख खून सड़कों पर बहता हुआ भी उतना ही भयानक होता है, जितना फिरकापरस्ती के ज़हर से काला खून—किसी की रगों में चलता हुआ...

दागिस्तान की एक गाली है—
अरे जा! तुझे अपनी महबूब का नाम भूल जाए!
सचमुच बहुत भयानक गाली है—इसान कें पास क्या रह जाएगा,
जब उसे महबूब का नाम भूल जाएगा...
इन्सान की महबूब उसकी इंसानियत है...
और मुझे लगता है आज हम उसी का नाम भूल गए हैं...

राहुल सांकृत्यायन की किताब 'वोलत से गंगा' पढ़कर मैंने महसूस किया कि राहुल आज काया की सूरत में सामने नहीं हैं, पर अक्षरों की सूरत में सामने हैं। मैं उनके अक्षरों से बात करने लगी—

पूछा—समय ने जंगल के अंधेरे में पहली बार आग जलती हुई कब देखी थी? अक्षर कहने लगे—ईसा काल से छह हज़ार बरस पहले—जगंल की एक गुफा में। आज से तीन सौ इकसठ पीढ़ियां पहले की बात है।...

पूछा—सो आग की ईजाद इन्सानी नस्ल को मिला वरदान था...? अक्षर कहने लगे—हां, तब यह वरदान था जब अभिशाप नहीं बना था। क्योंकि तब तेरा–मेरा का युग आने में अभी देर थी। आग और हथियार जब तक जंगली जानवरों से रक्षा के साधन थे, तब तक वरदान थे। पर जब इन्सान की इन्सान से रक्षा का साधन बने, उन्हें अभिशाप भी लगने लगा, तब कोई स्त्री किसी दूसरे की नहीं, आप अपनी होती थी,...पर जब पशुधन जोड़ा जाने लगा, फिर लूटा जाने लगा, तब स्त्री भी वस्तु बन गई, लूटी जाने लगी...मैं कह रही थी—तन की गुलामी के साथ मन की गुलामी का यह सिलसिला? राहुल सांकृत्यायन के अक्षर बोले—जब किसी राजा ने ऋषि को प्रसन्न करने के लिए सोना, पशु और दास—दासियों को दान दिया और ऋषियों ने राजा की स्तुति के गीत लिखे...यह एक सौ चवालीस पीढ़ियां पहले की बात है—तो राज–सत्ता और ब्राह्मण—सत्ता ने मिलकर सिर्फ उस समय की इन्सानी नस्ल को नहीं, आने वाले समय की सैकड़ों पीढ़ियों को भी—हर तरह के अन्याय सहन करने के लिए तैयार कर दिया...



मैंने टूटती–सी आवाज़ में पूछा—पर समय के चिन्तक...कवि...

वह बोले—कवि को कंचन और कंचनमाला जैसी सुन्दरी राजा का प्रसाद मिलने लगी।

एक बार फिर पूछा—अक्षरों का मायाजाल हमेशा बिछा रहा, आज भी बिछा हुआ है, कोई उपाय?

तो अक्षर हंस पड़े, कहने लगे—अक्षरों का ही तर्कशास्त्र। जैसे लोहे को लोहा काटता है, अक्षऱों के मायाजाल को भी अक्षर का तर्कशास्त्र काट सकता है। मायाजाल दासता पैदा करता हैं और दायों के बल पर कोई राष्ट्र शक्तिशाली नहीं हो सकता। तर्कशास्त्र की सामर्थ्य सिर्फ वही हाथ हो सकते है जिनके पास स्वतंत्र चिन्तन का बल होता है।

सो, देख सकी, एक कर्म के अनेक रूप होते हैं—जैसे—

सेक्स का कर्म अगर कमाई का साधन हो तो वह व्यापार हो जाता है; वही कर्म किसी खास मकसद की पूर्ति का जरिया बने तो रिश्वत का रूप हो जाता है;

वही कर्म अगर बाहुबल के ज़ोर से, दूसरे की मजबूरी में से पैदा हो तो जब्र–जिनाह हो जाता है;

वही अगर उम्र–भर के लिए एक—दूसरे की मिल्कियत का जरिया बने तो उसका रूप विवाह हो जाता है;

वही अगर वंश वृद्धि का वसीला बने तो एक मशीनी कर्म हो जाता है; पर वही कर्म अगर दो रूहों की पहचान बने—एक–दूसरे के अस्तित्व के आदर में से पैदा हुआ हो, तो मुहब्बत हो जाता है—ज़िन्दगी का जश्न हो जाता है...

उसी तरह सोचा करती थी—कलम का कर्म भी अनेक रूप होता है: वह बचकाने शौक में से निकले तो जोहड़ का पानी हो जाता है;
अगर सिर्फ पैसे की कामना में से निकले तो नकली माल हो जाता है; अगर सिर्फ शोहरत की लालसा में से निकले तो कला का कलंक हो जाता है;
अगर बीमार मन में से निकले तो ज़हरीली आबोहवा हो जाता है;
अगर किसी भी सरकार की खुशामद में से निकले तो जाली सिक्का हो जाता है।

उन दिनों इतिहास की एक कहानी पड़ी, जो पहली सदी के सिमोनिअन्ज़ की कही हुई थी, कि एक बार सात हाकिमों ने समय की बौद्धिकता को बंदी बना लिया और उसे इतनी यातनाएं दीं कि उसे वेश्या बनने पर मज़बूर होना पड़ा...इस कहानी की नायिका बौद्धिकता को बाद में कुछ विद्वानों ने बंदीखाने से छुड़ाया —मेरे लिए वे गुमनाम विद्वान—इल्म के सच के और शक्ति के प्रतीक बन गए...

दोस्तो! दागिस्तान की एक कहावत है कि दुनिया की तखलीक से भी एक सो साल पहले दुनिया का पहला शायर पैदा हुआ था और मैं मानती हूं कि यह महज़ एक खूबसूरत कल्पना नहीं, हकीकत है।

हमारे तंत्रशास्त्र में ब्रह्म की अव्यक्त स्थिति को आदि प्रकाश कहा है, जिसका कंपन उसमें शामिल है, और उसी कंपन के बल से ब्रह्म का अव्यक्त स्थिति से व्यक्त स्थिति में आना ही एक शायर का जन्म है। यानी ब्रह्म के आदि प्रकाश का कंपन एक शायर है — जिसकी कल्पनाशक्ति से दुनिया की तखलीक होती है।

तखलीक के इस अमल को एक नज़्म में मैने यह अलफाज़ दिए थे :

मैं एक निराकार मैं थी
यह. मैं का सकंल्प था—जो पानी का रूप बना
यह तू का सकंल्प था—जो आग की तरह नुमायां हुआ
और आग का जल्वा पानी पर तैरने लगा
यह—प्राक् ऐतिहासिक समय की बात है...

इस मैं की मिट्टी की प्यास थी,
कि उसने तू का दरिया पी लिया
यह मैं की मिट्टी का हरा सपना था,
कि तू. जगंल उसने खोज लिया
यह मैं का नीला—सा सपना—मिट्टी की सेज पर सोया
यह तेरे और मेरे मांस की महक थी
और यही हकीकत की आदि रचना थी
संसार की रचना तो बहुत बाद की बात है...

तंत्रशास्त्र में यही अ से आ बनने की अवस्था है। उस शक्ति का नुमायां होना,

जिसमें अपना प्रतिबिंब देखकर शिव अपने को पहचानता है। और यही अर्द्ध—नारीश्वर का फलसफा है।

यह अर्द्ध—नारीश्वर का फलसफा इस बात की तसदीक है कि दुनिया का पहला शायर सिर्फ मर्द नहीं था, औरत भी थी।

ईसा से दो—ढाई हज़ार साल पहले, या चार हज़ार साल पहले ऋग्वेद की रचना हुई और हमेशा उसमें रोमिशा, लोपामुद्रा, इन्द्रणी, सूर्या—सावित्री—यानी ब्रह्मवादिनियों की रचनाएं शामिल हैं।

उपनिषद् काल की गार्गी, मैत्रेयी, रामायण की अनसूया, महाभारत की सुलभा ऐतिहासिक नाम हैं। सब वेदों के ज्ञाता राजा जनक ने सुलभा से उपदेश लिया था।

मार्कंडेय पुराण में मदालसा का नाम आता है, जो आत्म–ज्ञान की महान पंडिता थी।

और देवहूति वह स्त्री थी जिसने सांख्य शास्त्र के रचयिता कपिल मुनि को जन्म दिया और जिसने शास्त्र का ज्ञान मां से पाया।

ऋग्वेद की ब्रह्मवादिनी सूर्या—सावित्री के शब्द दुहराना चाहती हूं : "रोज़ जब उषा सूरज से मिले, तो उसकी आंखों में ज्ञान का सूर्य हो, हाथों में सौगात देने के लिए वेद मंत्र हों, दुनिया के विद्वान उनके पुरोहित हों और स्वतंत्रता उनकी सेज हो, उनका मिलन, उनका वस्ल..."

ऋग्वेद की एक और शायरा घोषा काक्षावती के लफ्ज़ हैं : "राजा का फर्ज बनता है कि वह जगह–जगह ऐसे विद्वान रखे कि उनका चिंतन लोगों के कानों को नसीब हो और सूरज की ओर चिंतन की किरनों से लोगों के तन और मन शक्तिशाली हों...

फिर वक्त आया जब अर्द्ध—नारीश्वर का फलसफा खो गया— और दासता पैदा हुई
शिव शक्ति जैसा चितंन खो गया, तो जड़ता पैदा हुई
शक्ति खो गई—तो उसके प्रतिकर्म में से खौफ पैदा हुआ
धर्म खो गया—तो उसके प्रतिकर्म में से मज़हब पैदा हुआ
आत्मा खो गई—तो शरीर एक वस्तु बन गया
बेचने और खरीदने की वस्तु...

शरीरिक और मानसिक दासता का इतिहास बहुत लम्बा है। लेकिन साथ ही जद्दोजहद का इतिहास है, जो दुनिया की हर अहसानमंद औरत ने अपनी कलम से भी लिखा है, आंसुओं से भी।

मेरी जिन्दगी की और मेरे चिंतन की यात्रा सिर्फ एक अक्षर में है— 'मैं' अक्षर में, लेकिन यह यात्रा बहुत लम्बी है, बहुत मुश्किल।

इसका रास्ता बहुत खतरनाक घाटियों से भी गुजरता है।

और खतरनाक बीहड़ जंगलों से भी...

ओर कई बार उदासीनता का अंधेरा इतना गहरा हो जाता है कि लगता है, रास्ता खो जाएगा...

यह 'मैं'से 'मैं'तक की यात्रा है...
गुलामी से मोहब्बत तक की यात्रा
जड़ से चेतन तक की यात्रा
अक्षर से अर्थ तक की यात्रा
और महदूद से लामहदूद तक की यात्रा
यानी सीमित से असीमित तक की यात्रा...

हमारे देश के सात पवित्र स्थान सात पुरियां कहे जाते हैं— अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंती और द्वारापुरी। इनमें से द्वारापुरी सागर के किनारे पर थी जो कृष्ण के देह त्यागने के सातवें दिन सागर में लोप हो गई थी। बाद में वह द्वारिका के नाम से दूसरे स्थान पर बस गई, पर अपने मूल स्थान से वह लोप हो चुकी है...

मैं सोचती हूं कि सागर में लोप हुई द्वारापुरी ही हर इन्सान के 'मैं' का वह टुकड़ा है जिसकी तलाश हर इन्सान के 'मैं' को करनी होती है और उसका इतिहास खोजना होता है...

इसी 'मैं' की तलाश में मैंने जाना कि मुझमें और एक ब्राह्मण में क्या फर्क है? यही कि मैं ब्राह्मण नहीं हूं। मुझमें और एक क्षत्रिय में भी यही फर्क है कि मैं क्षत्रिय नहीं हूं। मुझमें और एक वैश्य में भी यही फर्क है कि मैं वैश्य नहीं हूं। और जाना कि मुझमें और एक हिंदू, सिक्स, मुसलमान या ईसाई में भी यही फर्क है कि मैं हिंदू, सिख या मुसलमान नहीं हूं। मेरे 'मैं' की एक पवित्र पुरी द्वारावती कौन से पानी में लोप हो गई, यही खोजते हुए मैंने अपने द्वारावती का भेद पा लिया कि मैं चर्क जाति की हूं...

हमारे प्राचीन काल में चर्क उसे कहा जाता था जिसका मुतालिया, जिसका अध्ययन जिन्दगी में कभी खत्म नहीं होता था वह तमाम जिन्दगी इल्म को, ज्ञान को बांटता रहता था...मैंने इल्म के लिए अपनी प्यास को समझ लिया तो अपनी जाति पहचान ली ओर जान लिया कि दो हाथों से जो अर्जित करना है वही हजार हाथों से बांट देना है...

चिंतन ही तो वह नगरी है, द्वारावती, जो जाने किस पानी में गर्क हो गई। धर्म चिंतन की आत्मा होता है। आत्मा लोप हो गई तो मजूहब एक जड़ता बनकर उस द्वारिका के नाम पर कई जगह बस गए...

धर्म की द्वारावती खो गई, तो धर्म के नाम पर जिन स्थानों की स्थापना हुई वह दौलत के जोर से हुई, तलवार के ज़ोर से हुई, या अंधी श्रद्धा के ज़ोर से हुई – पर आखों वाले विश्वास के जोर से नहीं हुई।

धर्म तो आखों की रोशनी होता है ओर यह सदियों का दुखान्त है कि धर्म के नाम पर इन्सान से आखों की बलि मांगी गई और चिंतन से तर्कशक्ति की बलि मांगी गई...

एक वक्त था जब राजा जनक से एक ऋषि ने कोई वरदान मांगने के लिए कहा। उस वक्त राजा जनक ने कहा–हे ऋषि! मुझे यही वरदान दीजिए कि मैं जब चाहूं मुझे आपसे प्रश्न पूछने का अधिकार हो!

यह कितना बड़ा वरदान था कि जिज्ञासु को प्रश्न पूछने का अधिकार मिला। क्या आज किसी भी मजहब में किसी भी जिज्ञासु को प्रश्न पूछने का अधिकार है? –यही

हमारे समय का दुखान्त हे कि धर्म के नाम पर इन्सान की तर्कशक्ति से जबान की बलि मांगी जाती है विश्वास से आखों की बलि मांगी जाति है।

हमारे वक्त की इसी मिट्टी का चिन्तन था कि सबसे बड़ा अभयदान है। यानी इन्सान को भयमुक्त कर देना। लेकिन धर्म, की चिन्तन की द्वारावती समय के उफान में लोप हो गई तो धरती पर दिखाई देने वाले ध र्मस्थानों ने इन्सान को भयमुक्त करने के जगह भयग्रस्त कर दिया।



मुहब्बत और मज़हब–दो ऐसी घटनाएं हैं, इलाही घटनाएं, जो लाखों लोगों में से कभी किसी एक के साथ घटित होती हैं।

मुहब्बत की घटना कभी बाहर से नहीं होती, भीतर से होती है, अन्तर से होती है। और मज़हब की घटना कभी बाहर से नहीं होती, भीतर से होती है, अन्तर से होती है।

एक हमारी रबिया बसरी थीं, जिसके बारे में कहा जाता है कि एक दिन वह एक हाथ में जलती हुई मशाल लेकर और दूसरे हाथ में पानी की मटकी लेकर भागती हुई, गांव–गांव से गुज़र रही थी कि बहुत से लोग इकट्ठे हो गए, पूछने लगे–“राबिया, यह क्या कर रही है?” कहते हैं, उस वक्त राबिया ने कहा–“मेरे लाखों मासूम लोग है जिन्हें बहिश्त का लालच देकर उनकी आत्मा को गुमराह किया जा रहा है ओर उन्हें दोज़ख का खौफ देकर उनकी आनेवाली नस्लों को भी खौफज़दा किया जा रहा है। मैं इस आग से

बहिश्त को जलाने जा रही हूं और इस पानी में दोज़ख को डुबाने जा रही हूं"–

जिस तरह वक्त को दो हिस्सों में बांट दिया गया है– क्राइस्ट से पहले और क्राइस्ट के बाद–मैं दर्शन को दो हिस्सों में तकसीम करती हूं–एक अंतर– अनुभव से पहले और एक अंतर–अनुभव के बाद...

वक्त को तकसीम करने की तरकीब पश्चिम से आई, इसलिए क्राइस्ट का नाम सामने आया। पूरब से आती तो कोई और नाम होता। इसलिए वह तकसीम सहूलियत के अर्थों में है, किसी गहरे अर्थों में नहीं...लेकिन यह दर्शन की तकसीम बहुत गहरे अर्थों में है...

इसी दर्शन का जब कला से मिलन होता है, तो अदबी तखलीक सामने आती है, लेकिन वह फर्क बना रहता है–रचनात्मक किया, अंतर– अनुभव से पहले और रचनात्मक क्रिया, अंतर–अनुभव के बाद...

जिस रात के होठों ने कभी सपने का माथा चूम लिया
ख्यालों के पैरों में एक पायल–सी बज रही उस रात की...

ख्यालों के पैरों में बजती हुई पायल का यह अंतर–अनुभव, जाने खुदा, कितना भर चेतन मन से जुड़ा हुआ होता है और कितना भर अचेतन मन से।

लेकिन कह सकती हूं कि वक्त की अंधेरी गारों में उतरने की इसमें एक जुर्रत होती है।

तहज़ीब के नाम पर जो एक हंगामा–सा दिखाई देता है, उसके नीचे कितनी अंधेरी गुफाएं बिछी हुई हैं, और जहां इन्सान की जाने कितनी सिसकियां दफन होती हैं, उन गारों में देख सकने की जुर्रत इसी अंतर–अनुभव से आती है।

तेरी तहज़ीब, जो एक मसनूई रोशनी उधार लेती है मेरे सूरज को देखती और झिड़क देती है...

मैं कोठरी दर कोठरी रोज़ सूरज को जन्म देती हूं और रोज़ मेरा सूरज यतीम होता है...

और यह भी कह सकती हूं कि इसी अनुभव में वह जुर्रत है जो सदियों के बनाए हुए रास्तों को नकार सकती है:

मैं मानती हूं कि अकाल सिर्फ खेतों–खलिहानों में नहीं पड़ता, लोगों की आत्माओं में भी पड़ता है...आज हमारे देश के जो हालात हैं, दुआ करती हूं कि हमारी आत्माओं में ऐसा अकाल न पड़ जाए कि हम इन्सानी मुहब्बत की और इन्सानियत की बात करना भूल जाएं...

जिनके पास चितंन है–जो इस मिट्टी की आत्मा को पहचानते हैं–
दुआ मागती हूं–उनकी आवाज़ बुलदं हो!
आवाज़–जो समाज के ज़मीर तक पहुंचे!

आवाज़–जो हर मज़हब के अर्थ तक पहुंचे!

आवाज़–जो इन्सान की इन्सानियत तक पहुंचे!

इन्हीं दिनों एक नया दर्द सामने आया कि मज़हब के नाम पर तो आम लोगों को बहकाया जा रहा था, पर अचानक बहुत कुछ साहित्य के नाम पर भी होने लगा। कितने ही शायर, कहानीकार और पत्रकार सामने आए–जो अचानक हिन्दू और सिक्ख शायर हो गए, हिन्दू और सिक्ख कहानीकार–हो गए, हिन्दू ओर सिक्ख पत्रकार हो गए...

. खुदाया! ये लेखक तो अपने लोगों की ज़मीर होते हैं। और क्या ज़मीर भी हिन्दू, सिक्ख या मुसलमान होता है?–क्या सूरज की रोशनी भी हिन्दू,

सिक्ख या मुसलमान होती है?

मेरी तरह तड़पकर पाकिस्तान के एक अदीब मज़हर–उल–इस्लाम ने 1985 की पहली दुआ मांगी :

ऐ खुदा! जी. टी. रोड से दूर कच्ची सड़कों के जाल में कच्चे घर हैं–
उनके आगंनों में बैठे बच्चों की चंगेरों में–
तंदूर की ताजा रोटी और घर का मक्खन उतार
मगर कौए को उनसे दूर रख...

यह कौए सिर्फ इन्सान की रोटी नहीं छीनते–इन्सान की इन्सानियत भी छीनते हैं। मज़हर–उल–इस्लाम की बेकसी एक दुआ बनती गई–ऐ खुदा! मेरे शहर के सारे बच्चों को वोट देने की उम्र से पहले–पहले सच के सफर की थकान सहारने का हौसला दे!...

बच्चे तो क्या–हमारे समय के कितने ही साहित्यकार और पत्रकार हैं जो सच के सफर की थकावट नहीं बर्दाश्त कर सकते–

मेरे माथे का तेवर एक गिरजे की मोमबत्ती है और वही मैं हूं।
मैं– एक गिरजे की मोमबत्ती
रोज़ छाती में जलती हुई आग को पैरों में डालकर
मैं गिरजे से बाहर जाती हूं
और जलती–जलती आंखों से निकलकर
मैं अक्षरों के हुस्न तक पहुचं जाती हूं
पर अक्षरों का हुस्न कागज़ की अमानत
जब कागज़ से बाहर आता है
धरती का बदन छूता है
तो धरती के खून में वह भीग जाता है
ओ मेरे आज के मसीहा
तू नहीं मिलता कहीं
तो मैं टिमटिमाती थी
सिर्फ गोलियों और बदूकों की आवाज़ सुनती
उस गिरजे में लौट आती हूं
जो अभी किसी देश में नहीं बना...

वह गिरजा कहीं नहीं बना, इसलिए उसकी मोमबत्ती एक तेवर की सूरत में मेरे

माथे पर बैठी हुई है...

मेरे माथे का तेवर हवन कुण्ड में से उठते हुए धुएं की लकीर है। हवन कुण्ड चितंन का प्रतीक था
यज्ञ की अग्नि आत्मा की अग्नि का अभिनय रूप भी।
और हर तरह का कर्मकाण्ड मानसिक बल का अभिनय।

पशु लफ्ज़ के अर्थ थे–जो वस्तु को उठाता है।
इन्सान को परमात्मा का पशु कहा गया
इसलिए कि वह अपने भीतर के परमात्मा को उठाकर चलता है।

हर कविता के छंद को पशु कहा गया
इसलिए कि छदं, अर्थों को उठाकर चलता है।

हर कथा–कहानी को भी पशु कहा गया
इसलिए कि वह ज्ञान को उठाकर चलती है।

और पशु बलि के अर्थ थे–
भीतर के तत्व को पाने के लिए बाहर के खोल को चीर देना...

ये सारे प्रतीकात्मक अर्थ समय–समय के सियाह दौर में खो गए
और लकड़ियों की आग जलाकर, मासूम पशुओं की बलि दी जाने लगी
फिर स्याह दौर और सियाह हो गए
और विश्वास के नाम पर, एतकाद के नाम पर
इन्सान की तर्कशक्ति की बलि दी जाने लगी...

पर चिंतन के हवन कुण्ड में जो आत्मा की अग्नि है, उस अग्नि में से उठते हुए धुएं की लकीर मेरे माथे का तेवर है।

वन देवता

चन्दन के पेड़ की सीध में
अशोक वाटिका के पीछे
और बोधि वृक्ष के पहलू में
एक भूतवा पेड़ उग आया है...

सासों की पवन बहती है–
तो प्राणों के कम्पन–सी–
उस पेड़ की एक शाख हिलती है–
सासों की पवन बहती है–
तो जिस तरह एक चिता जलती है

पेड़ से अग्नि निकलती है...
सांसों की पवन बहती है...
तो हर एक फूल की पत्ती
हाथों पे आग मलती है...
सांसों की पवन बहती है...
तो आग जगंल में चलती है...

वन देवता!
यह आग जब चलती है
राहगीरों के साथ मिलती है...
यह आग मृग बनती है
राहगीरों का मन छलती है...
यह अग्नि–दूत बनती है
तो शहरों की राह निकलती है...
यह अग्नि–बान बनती है
तो वन की एक नदी चलती है

वन देवता!
अब तेरी दुहाई है!
यह भूतवा पेड़ की गाथा
जैसे भी सुनी है, सुनाई है
तुम विश्वकर्मा को सुना दो!
ओर जिसने देव–अस्त्र गढ़े थे
उसी से एक आरी को ला दो!

वन देवता!
वन देवता।!

दुआ

दोस्तो!
उदासियों का मौसम बहुत लम्बा
हमारा एक शायर है–कई सालों से –
जब भी कोई साल विदा होता है
तो कैद बामुशक्कत काटकर
कैद से रिहा होते साल को मिलता
पाले में ठिठुरते कंधों पर
उसका फटा हुआ खेस लिपटाता
उसे अलविदा कहता
वक्त के एक मोड़ पर उसे छोड़ आता है...
फिर किसी दरगाह पर अकेला बैठ कर

नये साल की दुआ करता है–
कि आने वाले! खैर मै आना, खैरियत से आना!

यह उदासियों का मौसम बहुत लम्बा है–
बारूदी हवाएं चलती हैं
तो पेड़ों के नये पत्ते
पेड़ों से गिर जाते हैं
शाखाओं की कोख रोती है

पेड़ की जड़ों को देखती
और कहतीं–
यह कैसी तकदीर है
जो एक मिट्टी के खून को
कई फिरकों में बाट देती है
नफरत रगों में चलती
तो सारी बददुआ–
मांओं की कोख को लगती..

मेरे खुदा! तेरे हमदर्दो ने
एक खत लिखा था
अपने हाल– हैवाल का
कि रोशनी रोज़ चुगलियां खाती है
और अंधेरा घरों की चटखनी खोल देता है

रोज़ नींद की छत टपकती है
बाहर चीखों का पानी बरसता है
तो उनका लिहाफ भीग जाता है...

वे हंडिया में दाल नहीं
खौफ पकाते हैं
और बेजायका सालन के लिए
किसी यकीन के नमक की चुटकी
किसी दुकान से नहीं मिलती...
लेकिन उनका यह खत कहीं नहीं पहुचं पाया
कि खत को–सच का सिरनामां नहीं मिलता...

दोस्तो! दुआ मांगो कि मौसम खुशगवार हो!
यह कुल्हाड़ियों का मौसम बदल जाए
पेड़ों की उम्र पेड़ों को नसीब हो!
टहनियों के आंगन में
हरे पत्तों को जवानी की दुआ लगे!

मुसाफिरों के सिरों को छाया–
ओर राहों को फूलों की आशीश मिले!
दोस्तो! दुआ मांगो
कि बदनसीबियों का मौसम बदल जाए
सूरज की किरन मस्तक की मित्र बने–
तो वतन के कागज़ पर
अमन की तारीख लिखी जाती है
चांद की बत्ती राहों की मित्र बने
तो पैरों की सलामती
अंधेरे का मुकद्दर बदल देती है।

दुआ मांगो–
कि सूरज की किरन–
इन्सान के माथे से दोस्ती कर ले और चांद की बत्ती
अंधेरे राह की गवाही दे!

दोस्तो! वतन से बड़ी
कोई दरगाह नहीं होती
वतन वालो!
दिल का चिराग रोशन करो!
और एक कहीं हमारा जो शायर है
अकेला बैठ कर दुआ करता है
अपनी और उसकी दुआ की
कबूलियत मांगो।

कहते हैं–कि इन्सान के पेड़ों पर दुआओं का छिट्टा दे दें
तो खुदा महक जाता है–
मुहब्बत का चिराग रोशन करें
तो सब में खुदा दिखता है...
हवाओं में खुदा महक जाए
तो बंदे की दुआ कबूल होती है...

अक्षरों की धूप में–अक्षरों की छाया में

सामने–एक भर बहता दरिया था, लेकिन उसमें हलचल–सी मची हुई थी। लहरें उठतीं और शान्त–से सोये हुए किनारों के साथ इस तरह टकरातीं, जैसे किनारों को झकझोर कर जाग रही हों...ओर लहरों के होंठों में भरी हुई झाग जैसे जल्दी में किनारों से कुछ कह रही हो...

फिर शायद लहरों की बात किनारों ने समझ ली, और लहरों ने उछल कर एक

भारी सी चीज़ किनारे की तरफ की, तो दरिया के उस किनारे ने वह चीज़ अपनी बांहों में समेट ली...

देखा–वह किसी इन्सान का गुच्छा–सा हुआ शरीर था, जिसे उस किनारे ने आहिस्ता से अपनी छाती पर रख लिया, और फिर चढ़ते हुए सूरज की लौ, उस शरीर के अंगों को अपनी हथेलियों से खोलने और दुलारने लगी...

चौंक कर मेरी नींद टूट गई। लेकिन एक हैरानी मेरे गिर्द लिपटी हुई थी कि अभी मैं जिस सपने की दर्शक थी, वह सपना क्या था...

और फिर एक ऐतिहासिक घटना मेरे अचेतन मन से सरकती मेरे चेतन मन में आने लगी...

चेतन मन ने कहा–यह महाभारत की एक कथा है, कि वशिष्ट ऋषि के बेटे जब मर गए, तो उसने जिन्दगी को अर्थहीन समझकर एक दरिया में डूब जाना चाहा था। अपने हाथों और पैरों को रस्सि्यों से बांधकर उसने रात के गहरे अन्धेरे में अपने को दरिया के हवाले कर दिया था...

लेकिन दरिया का पानी घबरा गया था कि अगर आज उसमें वशिष्ठ ऋषि डूब गए, तो उसे ब्रह्म–हत्या का दोष लग जाएगा...और उस पानी ने अपने ज़ोर से ऋषि के हाथों और पैरों में बंधी रस्सियां खोल दीं, और फिर ऋषि को अपनी बांहों में लेकर आहिस्ता से किनारे पर रख दिया...

मैं एक हैरानी में लिपटी हुई थी कि सदियों पहले जो घटना महाभारत की एक कथा में समाई हुई थी, वह आज अपने अक्षरों से निकलकर–मेरे सामने मूर्तिमान कैसे हो गई?

‘कैसे’ का पता नहीं लेकिन, ‘क्यूं’ का जवाब मुझे मिलने लगा, कि यह मेरी रगों में समाया हुआ एक दर्द है कि जिस पंजाब की धरती, ऋषियों और विद्वानों ने अपने चिन्तन से ज़रखेज की थी, उस पंजाब की मिट्टी आज अपने ही लोगों के हाथों अपने ही लोगों के खून में क्यूं भीग रही है...

और इतिहास के कितने ही हवाले मेरे ज़हन में आकर खड़े हो गए...



पश्चिम की तरफ एक सिन्ध नदी थी, और पूर्व की तरफ सरस्वती नदी, और वह पूरा इलाका सप्त सिन्धु कहलाता था...

बीच में पांच दरिया बहते थे–यही आज का जेहलम, वितस्ता कहलाता था, आज का चनाब–असकिन और चन्द्रभागा था, आज का रावी दरिया तब आरूष्णि और इरावती कहलाता था..., आज का सतलुज–शतद्रु और आज का व्यास विपाषा कहलाता था...

वशिष्ठ ऋषि को उसने पाश–मुक्त किया था, इसी से उसका नाम विपाषा हुआ था और यही पंच–नद थे पांच–आब। आज के पंजाब का यह नाम नदी–मूलक था।

इन्हीं पानियों के किनारे, इन्हीं के कणों में वह सभी ऋषि हुए, जिनकी रचना दुनिया की पहली पुस्तक कहलाई–ऋग्वेद।

जिन वशिष्ठ ऋषि ने ऋग्वेद के कितने ही सूक्त लिखे, वह उस राजा सुदास के पुरोहित थे, जिसका राज, रावी और व्यास के बीच वाले इलाके में था।

कामधेनु, जो मन की आकांक्षा को पूरा करने वाली गाय थी, वह वशिष्ठ ऋषि के आश्रम में थी।

विश्वामित्र भी राजा सुदास के पुराहित थे, और यही विश्वमित्र थे, जिन्होंने गायत्री मंत्र की रचना की। अगस्त्य ऋषि विश्वामित्र के ही जुड़वां भाई थे, मित्रावरुण और उर्वशी की औलाद। इन्होंने वेद के अनेक सूक्त लिखे, और ब्रह्म–पुराण की रचना की।

ऋग्वेद की रचना में जिन सत्ताईस ब्रह्मवादिनियों के लिखे हुए कई सूक्त हैं, उन्हीं में एक सुन्दरी लोपामुद्रा थी – इसी अगस्त ऋषि की पत्नी...

ऋग्वेद के एक ऋषि शिवि, उस इलाके के रहने वाले थे, जिसे आज झंग और शोट

कोट कहा जाता है...

कठोपनिषद का नाम जिन कठ लोगों के नाम पर पड़ा, वह कठ लोग व्यास और रावी दरिया के बीच वाले इलाके में बसते थे...

एक सूर्य मन्दिर, जिसे भारत देश का पहला सूर्य मन्दिर माना जाता है, वह शांब ने पंजाब की चन्द्रभागा नदी के किनारे पर बनवाया था...

कौशल्या, जिसने राम जैसे बेटे को जन्म दिया, गुराम नगर में पैदा हुई थीं, जो पटियाला से थोड़े से कोस की दूरी पर है।

सुमित्रा, जिसने लक्ष्मण जैसे बेटे को जन्म दिया, दसूया गांव की थी,

जो होशियारपुर के पास है।

तक्षशिला विद्या का वह स्थान था, जहां हर तरह के शास्त्र का ज्ञान दिया जाता था। वह सिन्ध नदी के पूर्व की ओर था।

पाणिनी का व्याकरण–शास्त्र वह रचना थी, जिसे दुनिया के भाषा विज्ञानी नमस्कार करते थे। पाणिनी का जन्म तक्षशिला के नज़दीक शालातुर गांव में हुआ था।

पिंगल मुनि के जन्म से छन्द–शास्त्र को पिंगल–शास्त्र कहा जाने लगा। यह पिंगल मुनि पाणिनी के ही छोटे भाई थे, और उसी शालातुर गांव में पैदा हुए थे...

पतंजलि मुनि उस 'महाभाष्य' ग्रन्थ के लेखक थे, जिसमें पहली बार दार्शनिक तत्वों की व्याख्या हुई थी। उनका सम्बन्ध वाहीक जनपद से था, जो प्राचीन समय में पंजाब का ही वंश मूलक नाम था...

आज का पेशावर जब पुरुषपुर होता था, राजा कनिष्क के समय वह बहुत बड़ा विद्या–केन्द्र था। वसुमित्र जैसा बौद्ध दार्शनिक, नागार्जुन और मातृचेट जैसे महान चिंतक पुरुषपुर में रहते थे...

चरक मुनि आर्युवेद की सबसे प्रचानि पुस्तक 'चरक संहिता' के लेखक थे। वह भी पुरुषपुर में हुए थे।

बाण भट्ट, 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित' जैसे ग्रन्थों के लेखक थे, और स्थानीश्वर में रहते थे, जो आज का थाणेसर है।

महाभारत के लेखक कृष्ण द्वैपायन, जो व्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए, वह गांव बासाना ज़िला करनाल के थे...

चाणक्य का नाम आज तक 'चाणक्य–नीति' के लिए इतिहास प्रसिद्ध है। यह चाणक्य, विष्णुगुप्त के नाम से तक्षशिला में पैदा हुए थे।

कपाल–मोचनी विद्या, भारत की पहली सर्जिकल विद्या थी, जिसके माहिर जीवन कुमार भृत्य थे। उनका जन्म राजगढ़ में हुआ था।

जिस भरतमुनि का नाट्य–शास्त्र आज भी इतिहास प्रसिद्ध है, उस भरतमुनि का सम्बंध उस भरत–जनपद से था, जो आज थाणेसर, कैथल, करनाल और पानीपत का इलाका है।

ब्रह्मगुप्त, गणित शास्त्र के ज्ञाता थे। उनका जन्म मुलतान के नज़दीक भिलमल नामक गांव में हुआ था।

और मैं तड़प उठी कि यही पंजाब की मिट्टी थी, जहां ऋग्वाणी, कृष्णवाणी, गोरखवाणी और नानकवाणी के अक्षर सूरज की तरह चढ़े थे, और पेड़ों की तरह गो थे...और लोग उन अक्षरों की धूप भी तापते थे,

और उनकी छाया में भी बैठते थे। पर इन अक्षरों और धूप और इन अक्षरों की

छाया आज कहां चली गई?

और पंजाब में जो हवा बहती थी, आज वह लोगों के सांसों में नफरत कैसे मिला रही है?

और मेरा आज का सपना? आज के खून से भरे पानियों ने मुझे अपना वह दर्शन क्यूं दिया है, जब वह पानी ब्रह्म–हत्या से मुक्त होते थे।

और जो सपना–मैंने सोई आंखों से देखा था, वह मेरी जागती आंखों में पानी की सूरत में भर आया...

और मैं सोई–जागती–सी हालत में आज के चढ़ते सूरज की ओर देखने लगी, जैसे उससे पूछ रही हूं कि किसी समय तेरी आब कैसी होती थी, जिसने वशिष्ठ के शरीर को हथेलियों से मल–मल कर मरने से बचा लिया था...

सूरज जवाब नहीं देता। और मुझे लगता है कि मेरे अक्षरों में उनकी धूप भी खो गई है, उनकी छाया भी...

चिंतन के साये

मेरी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' का पहला संस्करण 1977 में प्रकाशित हुआ था, इसलिए बाद के वर्षों का कुछ ब्यौरा 1991 वाले संस्करण में शामिल हुआ–जिसमें चिंतन की यात्रा का भी कुछ ब्यौरा है, जिसे मैंने 'हुजरे की मिट्टी' नाम दिया। सूफी लोगों ने अपने साधना स्थल को 'हुजरा' नाम दिया है, जिसमें कई वर्षों की साधना उस स्थान को तरंगित कर देती है।

मेरी जिंदगी में कोई साधना प्रचलित अर्थों में नहीं है–वह सिर्फ अन्तर्मन की यात्रा के अर्थों में है। और उसी के तरंगित होने को मैंने कहा–"मैं अपने हुजरे की मिट्टी हूं, मैं खुदा के शजरे की लकीर हूं"–

ये चिंतन के साये थे, जो अन्तर्मन की यात्रा पर ले गए, इसलिए उस अनुभव के कुछ पृष्ठ यहां देने होंगे–

फ़ितरी–नफ़सी चेतना

वजूदियत से लेकर परा–वजूदियत तक की यात्रा में–चेतना की इब्तदा फ़ितरी–नफ़सी सतह पर होती है। यह इन्सान की बुनियादी जरूरत होती है।

और जैसे हर इलाके की आबोहवा और उसकी पैदावार इलाकेई–चेतना को जन्म देती है–उसी तरह हर फिरके, कबीले और संस्था की जेहनी और रूहानी आबोहवा जिस–जिस तरह की चेतना को जन्म देती है, उनको फ़िरकियाई**,** कबीलियाई और संस्थाई चेतना कह सकती हूं।

महज़ फ़ितरी सतह पर रुक जाने का कर्म जंगल के नायक को जन्म

देता है, जिसकी चेतना की जड़ सिर्फ भूख मे होती है–और आखिरी मकसद रोटी में। वह चाहे छीन कर मिले या लूटकर। और उस भूख का दूसरा पहलू होता है–कामुक चेतना–सैक्यूअलाइज्ड कॉन्शी यसनैस।

और फ़ितरी चेतना के साथ जब नफ़सी चेतना मिल जाती है, तक इलाके, फिरकियाई, कबीलियाई और संस्थाई चेतना के अलावा –चेतना की एक और सतह सामने आती है, जिसकी बुनियाद कुछ हद तक इन्सान के बचपन में होती है, जिसके साथ जन्म से मिले माहौल का प्रभाव उसकी 'सायकी' में गहरा उतर जाता है, और कुछ हद यह तक किसी प्राचीन काल में होती है–पूर्वजन्मों के जाति और मज्मूई अनुभव में। इनके कण अचेतन मन की गारों में होते हैं, इसलिए किसी तर्क की पकड़ में नहीं आते, पर इनकी कशिश बड़ी मुंहजोर होती है–जो संस्कारों की सूरत में दिखाई देती है। ऐसी

चेतना को संस्कारित चेतना कह सकती हूं।

अंगुलियों के पोर से इन कड़ी गांठों को खोलना उस इश्क का तकाजा होता है, जो, चेतना की यात्रा का इश्क होता है।

मेरे इश्क के बदन में, जाने कितनी सुइयां उतर गई हैं...
कहीं उनका पार नहीं पड़ता...
आज धरती की धाया आई थी
कुछ मुंह जुठाने को लाई थी
और व्रत का रहस्य कहती रही–

यौवन–जो मेरे बदन पर बौर की तरह पड़ा है
वह प्यास से बिलखने लगा...
और सुइयां निकालते–निकालते, संध्या की बेला हो आई है...

कहीं कोई चांद नहीं दिखता
सोचती हूं–यह जो सुइयां निकाल दी हैं
शायद मेरी उमर की कमाई है...

मेरी नज़्म की सुइयां – हर तरह के समाज, मजहब और सियासत की ओर से– इन्सान को दी हुई फ़ितरी, ज़ेहनी और नफ़सी गुलामी की प्रतीक हैं, जिनसे उसे अपने आपको मुक्त करना है।

यिन–यांग चेतना

हर इन्सान की काया जिन दो शक्तियों के संगम से बनती है–वे यांग और यिन शक्तियां होती हैं। मर्द की काया में यांग शक्ति का दिखाई देता रूप होता है, और यिन शक्ति का न दिखाई देता हुआ रूप। और औरत की काया में यिन शक्ति का दिखता हुआ रूप होता है और यांग शक्ति का न दिखाई देता हुआ रूप।

इनको स्थूल और सूक्ष्म रूप भी कह सकते हैं, और चेतन– अचेतन भी।

मेरी चेतना की क्रांति में जो यिन–यांग चेतना मिली हुई थी, उसका पहला इज़हार मेरी उस नज़्म में था, जिसका नाम 'व्यापार' था।

जड़ता सोई हुई चेतना होती है और चेतना जागी हुई जड़ता। इस सच्चाई की रोशनी में समाज की सोई हुई चेतना देखना एक दर्द था, जो मेरे लिए असह्य हो गया था। वह नज़्म 'व्यापार' उसी दर्द की एक चीख थी–

यह जिस्मों का व्यापार है–
पुरुष और नारी तराजू के दो पल्ले हैं
रोज मांस तौलते हैं, लहू बेचते हैं
ओर मांस मिट्टी के दो–तीन–
छोटे– छोटे सिक्के कमा लेते हैं...
रंग और नक्श कीमती हों
तो कद्रदान आते हैं–सोना बरसाते हैं

अगर देह कुछ सस्ती है
तो दहेज की बोली भी लगती है
इस व्यापार के कितने ही बाजार होते हैं
एक बाजार में तो लोग गाते–बजाते हैं
अपने इष्टदेव की मुट्ठी में कुछ देकर
सौदे पर मोहर लगवाते हैं
और दिन की रोशनी में भी बेचने के
हकदार हो जाते हैं–
और एक बाजार में–चुपके से
रात के अंधेरे की ओट में
वही वस्तु वही मोल– भाव
और खरीदार आते हैं...
यह जिस्मों का व्यापार है–
जहां पुरुष और नारी तराजू के दो पल्ले हैं...

नफ़सी–रूहानी चेतना

पत्थर–पत्थर है...

वह किसी पागल के हाथों में आ जाए तो किसी का जख्म बन जाता है–किसी माईकेल ऐंजिलो के हाथ को छू ले तो वह हुनर का शाहकार बन जाता है–उसको किसी गौतम का संग मिल जाए तो वह वज्रासन बन जाता है–कोई उसके कण–कण को सुन ले तो वह गारेहिरा बन जाता है–

और जैसे पत्थर का कायाकल्प किसी मानसिक चेतना के हाथों होता है–ठीक उसी तरह इन्सान का कायाकल्प उसकी अपनी मानसिक चेतना के हाथों होता है–

इन्सान के पास कुदरत का सबसे बड़ा वरदान है, कि उसकी मानसिक चेतना में अल्कीमिआई पहलू होता है।

जेहनी काबिलीयत दो तरह से कार्यशील होती है–एक हर तरह की जानकारी हासिल करने में, उसको अर्जित करने में, उसका संग्रह करने में, पर यह पण्डिताई किसी का कायाकल्प नहीं कर सकती। इससे कोई अपने क्षेत्र का नायक हो सकता है, पर उसका व्यक्तिकरण नहीं होता।

पर यह जेहनी काबिलीयत जब जेहनी चेतना बन जाती है, अन्तर–साध ना में उतर जाती है– तो उसके अनुभव का अल्कीमिआई पहलू उसका कायाकल्प कर देता है। और इस कायाकल्प में जो व्यक्तिकरण होता है–सिर्फ वह काया के अंधेरे में किसी रोशनी को तरंगित कर सकता है।

अनुमान लगा सकती हूं कि यह सिर्फ ऋषि– अवस्था हो सकती है–जिसकी काया के जल में रोज़ चांद–तारे उतरते हैं। पर जहां तक दुनिया के शायरों का सवाल है, उनके अन्तर–मन का पानी कई तरह की दुनियादारी से झड़ते पत्तों से हमेशा ढंका रहता है। सिर्फ कभी–कभी कोई हवा का झोंका उन बौर–पत्तों को हिला देता है– और पल भर के लिए आसमान के चांद–तारे उस पानी में उतर आते हैं।



मज्मूई चेतना

साई बुल्लेशाह ने जब कहा था–"कर बिस्मिल्ला खोल दी मैंने चालीस गांठें" शायद उनका संकेत उसी अमल की ओर था जब पूरे आलम की इकाई को समझने के लिए सभी जातियों–जन्मों की गांठें खोलनी होती हैं...

उसने किस मुश्किल से अपने पैरों से यह गांठें खोली होंगी, इसका वह जिक्र नहीं करता, पर इसका जिक्र सुलान बाहु करता है–"आधी लानत दुनिया को, और आधी दुनिया़दारों को।"

पर यह हकीकत है–कि जब अपने–अपने हलके की मज्मूई चेतना गांठों की तरह खुल जाती है, तो इकाई की चेतना में से जो मज्मूई चेतना पैदा होती है, उसका मंजर यही होता है कि कुल आलम के कण–कण से उस इकाई का रिश्ता नुमाया हो जाता है।

इस मज्मूई–चेतना में इकाई भी कायम रहती है और इस इकाई में मज्मूई चेतना भी बनी रहती है।

मेरी कई नज़्में इस चेतना के अहसास में से सामने आई थीं, पर यहां सिर्फ एक नज़्म दर्ज़ कर रही हूं–

मैं गिरजे की मोमबत्ती हूं
रोज़ छाती की आग को पैरों में डालकर
मैं गिरजे से बाहर जाती हूं
और जलती–बुझती आंखों से गुजर कर

मैं अक्षरों के हुस्न, तक पहुचं जाती हूं
पर अक्षरों का हुस्न, कागज की अमानत
जब किसी कागज़ से बाहर आता है
धरती का बदन छूता है
तो धरती के खून में वो भीग जाता है

मेरे आज के मसीहा,
तू नहीं मिलता कहीं तो मैं टिमटिमाती–सी
सिर्फ गोलियों और बदूकों की आवाज़ सुनती
उस गिरजे में लौट आती हूं
जो अभी किसी देश में नहीं बना...

ऋण–चेतना

पोलराईजेशन, डी–पोलराईजेशन और री–पोलराईजेशन – यानी चेतना का ध्रुवीकरण, अध्रुवीकरण और पुन :ध्रुवीकरण जिस पूरे सिलसिले में घटित हो सकता है, उसका जायजा ले सकने वाले इन तीन शक्तियों के तीन मूल स्रोतों तक उतर सके हैं, जिनको वे तीन नाम देते हैं–देव–ऋण, ऋषि–ऋण और पितृ–ऋण।

धरती एक अंधेरा ग्रह है, जिसको सारा तारामण्डल प्रकाशित करता है। अंधेरे की कोख में जो रोशनी के कण मिलते हैं, वही इन्सान की काया में महाचेतना के बीज बनते हैं। और ये बीज जिन तीन शक्तियों की मदद से अंकुरित होते हैं, पलते हैं और खिलते हैं– वही तीन शक्तियां देव–शक्ति, ऋषि–शक्ति और पितृ–शक्ति हैं।

देव–शक्ति की बात कहने के लिए–एक प्राचीन कहानी को दोहराना चाहती हूं, जिसके मुताबिक खुदा ने जब दुनिया बना ली, तो सभी देवताओं को धरती पर भेज दिया। वे धरती के जंगलों–बीहड़ों में घूमते रहे, और थककर खुदा के पास वापिस चले गए। कहने लगे– न तो हमारे रहने–बसने के लिए वहां कोई अच्छी जगह है ओर न ही कुछ अच्छा हमारे खाने–पीने के लिए। खुदा हंस दिया, और कहने लगा–वो देखो, धरती पर मैंने जो इन्सान बनाया है–वह एक सुन्दर स्थान है तुम्हारे क़ियाम करने के लिए। और कल्पना–शक्ति तुम्हारा बहुत अच्छा भोजन हो सकती है।

यह प्राचीन कहानी बड़े प्रतीकात्मक अर्थों में है। कहते हैं कि खुदा का आदेश पाकर सारे देवता धरती पर आ गए। सूरज देवता ने इन्सान की आंखों में कयाम कर लिया। अग्नि देवता ने उसकी वाणी में, बृहस्पति ने इन्सानी काया के रोम–रोम में, और इन्द्र देवता ने उसके दिल में अपने रहने की जगह बना ली।

यह सारी कहानी सितारा–मण्डल के उन प्रकाशित कणों की बात करती है, जो इन्सानी काया के अंधेरे में मिले हुए होते हैं। यह सारे कण बीज रूप में होते हैं, जिनका पनपना, विकसित होना देव–शक्ति है।

इसी तरह ऋषि–शक्ति महज उनका नाम नहीं होती, जिनसे इन्सान इल्म हासिल करता है, यह उनके माध्यम से मिलने वाले उस चिंतन का नाम होती है, जिसके कारण इन्सान की मानसिक शक्ति तैयार होती है।

पितृ–शक्ति महज मां–बाप की सूरत में नहीं होती, उनके जरिये मिलने वाले इन्सानी नस्ल के सदियों के तजुर्बे के वह कण होती है, जो इन्सान की काया और 'सायकी' को बनाते हैं।

और बात इन तीन शक्तियों की इस गहराई में उतरती है–जहां इन तीन शक्तियों को इन्सान के तीन ऋण कहकर इन्सान की चेतना को तैयार किया जाता है–यह तीनों कर्ज चुकाने के लिए।

देव–पुरखी, ऋषि–पुरखी और पितृ–पुरखी नामों के अधीन हो जाना ऋण चुकाना नहीं होता। हर नाम बीज रूप में होता है, जिसका अर्थ बीज की पूजा–अर्चना में नहीं होता, बीज के विकसित होने में होता है। इसलिए इन नामों के विकास में उतर जाना इनका ऋण चुकाना होता है।

ऋण–चेतना के इस अमल में एक वह मुकाम भी आता है, जिसके खतरनाक मोड़ को समझ लेना होगा–

वह मुकाम क्रान्ति का होता है।

क्रान्ति सही अर्थों वाली भी होती है, और मस्नूई अर्थों वाली भी।

जब चेतना के ये बीज सिर्फ जल के रूप में संभाल लिए जाते हैं, जिनके पास न मन की मिट्टी होती है, न मस्तिष्क की धूप और न आत्मा का पानी, तब एक क्रान्ति सामने आती है।

यह क्रान्ति आर्थिक और जेहनी गुलामी को झेलते हुए जो कुछ भीतर ही भीतर एक लावे की तरह जमा होता जाता है–उस लावे के निकास के लिए एक रास्ता बनता है। पर यहां वह क्रान्ति दो–मुखी हो जाती है।

उसका एक पहलू महज़ तशद्दुद होता है, जिसके सामने हर स्थापित को तोड़ देने के सिवा और कोई मकसद नहीं होता। उसका मकसद सिर्फ इतना होता है कि वह स्थापित सत्ता जिन हाथों में भी होती है, उन हाथों से निकल कर उनके अपने हाथों में आ जाए।

क्रान्ति के इस पहलू का रास्ता सिर्फ तशद्दुद होता है। इसके साथ हाथ बदलते हैं और कुछ नहीं बदलता। और इसी को मैंने मस्नूई अर्थों वाली क्रान्ति कहा है।

इसकी प्राप्ति बड़ी आरजी होती है, और हार जीत की इस जमीन पर पड़े हुए बदलाखोरी के बीज फिर से पनपने लगते हैं। और इस तरह ये हर तरह के तशद्दुद की एक कड़ी बन जाती है।

इस तरह की क्रान्ति की इस तरह की ताबीर मेरी एक नज़्म की कुछ पंक्तियों में उतरी थी–

इस जेल की यह बात–
कोई कभी न करता, कोई कभी न कहता
कि दुनिया की हर बगावत एक ताप की तरह चढ़ती है
ताप चढते है और उतर जाते हैं

पर जो क्रान्ति सचमुच की क्रान्ति होती है–वह 'क्या' की बात नहीं करती, 'क्यों?' की बात करती है। उसका दर्द उस बीज का दर्द होता है–जो मन की मिट्टी से, मस्तिष्क

की धूप से और आत्मा के पानी से वंचित कर दिया जाता है।

यह क्रान्ति बाहर से नहीं, भीतर से घटित होनी होती है। यह काया जैसे मिट्टी के दीये में आत्मा की आग जलाने की क्रान्ति होती है।

मैं समझती हूं, जिस काया में सूर्य–चन्द्र जैसे देवताओं ने कियाम किया था, उस काया में से उनके वजूद को पहचान लेना, इन्सान का वो अमल होता है जो 'धर्म' लफ़्ज़ को धारण कर सकता है।

और इन अर्थों में हर इन्सान का धर्म एक होता है। हर संस्थाये हुए मजहब से इन्कार वह क्रान्ति है जिसके पास धर्म लफ़्ज़ में उतरने की शक्ति होती है।

यही देव–ऋण, ऋषि–ऋण और पितृ–ऋण को चुकाना है।

मेरे अचेतन में जरूर इसी ऋण को चुकाने की जुस्तजू रही होगी कि एक लोक गीत सुनते हुए लगा, कि मेरे अन्दर कहीं वह जड़–बदली हो रही है।।

एक लोक–गीत की एक पंक्ति मैंने सुनी थी–जो मारिफ़त की प्यास वाले दरगाहों पर चिराग जलाते हुए गाते हैं–"चार चिराग तेरे बलन हमेशा, मैं पंजवां बालन आई।"

पर उस गीत में पांचवें चिराग की कोई तशरीह नहीं है। यह मेरे मन की अवस्था थी, जिसने तशरीह की, और यही मेरी नज़्म थी–

न मैंने वुजू किया है, न कोई सजदा किया है
न मन्नत मांगने आई हूं
तेरे चारों चिराग जलते रहें
मैं तो पांचवा जलाने आई हूं...
दुखों को पेल कर मैंने तेल लिया है
और माथे का तेवर एक रूई की बत्ती
जो माथे में सजाई है...
चेतना की नदी में हाथों को धोया है
माथे का दीया हथेलियों पर लिया है
ओर उसे आत्मा की आग छुआ दी है...

यह मिट्टी का दीया, तूने ही तो दिया था
मैंने तो उसे आग का शगुन डाला है
और तेरी अमानत लौटा लाई हूं...
तेरे चारों चिराग जलते रहें
मैं तो पांचवां जलाने आई हूं...

मेरी नज़्म में–काया के माथे पर क्रान्ति के तेवर को धारण कर लेना देव–ऋण को चुकाना है...चेतना की नदी में हाथों को धोना ऋषि–ऋण को चुकाना है, और दीये को आग का शगुन डालना पितृ–ऋण को चुकाना

यह अमल अपने–आपके उस हुजरे में बैठने जैसा है–जहां अपना–आप आखिर में उसे हुजरे की मिट्टी बन जाता है...

तखलीक–चेतना

शायरी, अफसाना–निगारी, मौसीक़ी, चित्रकला या बुत–तराशी, तखलीक की कोई भी सूरत हो, पर तखलीक अपने–आप में उस रिश्ते की नुमाइंदगी करती है, जो रिश्ता कलाकार की ज़ाती चेतना और लोगों की मज्मूई–चेतना के बीच में इस तखलीक के जरिये बनना होता है।

यह रिश्ता किसी एक सतह पर नहीं बनता। ज़ाती चेतना की कई परतें होती हैं, और मज्मूई चेतना की भी कई परतें। और इस तरह हर सतह अपने बराबर की सतह के साथ एक रिश्ता बनाती है।

कोई कौम–कबीला जब किसी मुश्किल वक्त में से गुज़र रहा होता है, उस वक्त खास तौर पर मज्मूई–चेतना का संस्थाई पहलू कई रंगों में सामने आता है। उसमें दुख का रंग भी होता है, होना होता है, पर साथ ही नफरत और बदलाखेरी के वे रंग भी होते हैं, जिनके बराबर उतरने वाली तखलीक में ये सारे रंग घुल जाते हैं।

उस वक्त जो तखलीक मज्मूई–चेतना की नुमाइंदगी करती है, वह बड़ी आज्ञाकारी नुमाइंदगी होती है। और ऐसे समय कौम–कबीले का इतिहास भी कई छलनियों में छनता है। जिसका कुछ हिस्सा नकार कर वह हिस्सा स्वीकार लिया जाता है, जो समय की जरूरत होता है।

ऐसे समय की तखलीक किसी मज्मूई–चेतना के साथ रिश्ता बनाती है, वह इस दौर के बदलते हही मज्मूई–चेतना के साथ रिश्ता बनाती है, वह इस दौर के बदलते ही मज्मूई चेतना के फिर से विकसित होने के समय, उसके साथ अपना रिश्ता नहीं ढूंढ सकती।

मीरा–चेतना

सूफी चिन्तन ने चेतना की यात्रा के सात मुकाम माने हैं–

तलब, इश्क मारिफ़त, बेनियाज़ी, तौहीद, हैरत और फ़क्र–फ़ना।

जो यात्रा तलब से मुारू हुई, किसी हुस्न पर ठहरी, तो आग का जो शोला नुमाया हुआ, उसका नाम इश्क हुआ।

फ़ितरी तलब जब रूह की तलब बन गई, तो मारिफ़त का ज़ायका नसीब हुआ।

मारिफ़त के वज्द में जब अंग–अंग बावरा हो गया तो बेनियाज़ी का मुकाम आया।

बेनियाज़ी की हालत में जब कुल आलम की यकताई देख ली तो तौहीद का मुकाम आया।

अगला मुकाम हैरत का है, नूरे–हैरत का, दीदारे–खुदा का।

और आखिरी मुकाम फ़क्र–फ़ना का जहां किसी जलवे को पा लेने वाला, जलवे का हिस्सा हो जाता है। वस्ल का वह मुकाम, जहां देखने वाला दिखाई देने वाले में लीन हो जाता है और दिखाई देने वाला देखने वाले में समा जाता है।

इसी यात्रा को श्रीअरविन्द ‘सेवन फोल्ड टुथ कॉन्शसनैस’ कहते हैं।

भारतीय चिन्तन ने इस सात मुकाम वाली यात्रा को, महाचेतना की सात धाराएं कहा है–

1. पहली–शैल–पुत्री, जल–चेतना, जिसमें जल–शक्ति के प्रवेश ने शिला–रूप धारण किया।

2 दूसरी–ब्रह्मचारिणी, यह मनन शक्ति है, कुल आलम में विचरती।

3. तीसरी–चन्द्रघंटा, जिससे आदि–ध्वनि पैदा हुई। अग्नि चिन्तन पैदा हुआ।

4. चौथी–कूष्मांडा, अण्डाकार ब्रह्माण्ड, जिसमें कितने ही ब्रह्माण्ड–सृजन के के बीज हैं।

5. पांचवीं–स्कन्दमाता, जौ लौकिक है, प्रत्यक्ष है, काया है और जिसके द्वारा शक्ति का संचार होता है।

6. छठी–कात्यायनी, जो लिप्त होकर भी निर्लिप्त होने की इच्छा है। आकार से निराकार होने की इच्छा।

7. सातवीं–कालरात्रि, पूर्ण चेतना की जागृति।

श्री रजनीश के शब्दों में ये सात सम्भावनाएं हैं, जो हमारे अन्दर मूर्छित अवस्था में पड़ी हुई हैं, और जिनको हमें साधना से जगाना है।

भारतीय चिन्तन में सप्तऋषि इसका प्रतीक है–

1. वशिष्ठ–जो अग्नि तत्व है, विवेक शक्ति।
2. काश्यप–जो पृथ्वी तत्व है, जागृति।
3. अत्रि–जो जल है, वाणी शक्ति।
4. जमदग्नि–जो तेज तत्व है, कर्म शक्ति।
5. गौतम–जो वायु तत्व है, विचार शक्ति।
6. विश्वामित्र–जो आकाश तत्व है, इच्छा शक्ति।
7. भरद्वाज–जो चेतन तत्व है, संकल्प शक्ति।

सूफी चिंतन जिसको फ़क्र–फ़ना कहता है, भारतीय चिन्तन उसी को काल–रात्रि कहता है और बौद्ध चिन्तन उसी मुकाम को अर्हत नाम देता है। यह आखिरी अवस्था वह है, जहां सब कुछ शान्त है, खामोश है, एक ऐसा पानी जो तरंगित नहीं होता।

बौद्ध चिन्तन इस समाप्ति के बाद फिर होने की बात करता है–उस ध्वनि की बात जहां खामोशी तरंगित हो जाती है।

श्री रजनीश इसी की ओर संकेत करते हैं–देखो! आकार मिट चुका, और निराकार नृत्य करने लगा।

इस मुकाम पर पहुंच कर भारतीय चिन्तन महाचेतना क सात धाराओं में दो और सूक्ष्म धाराएं शामिल करता है–महागौरी और सिद्धि–दात्री। जहां काल रात्रि का अंधकार सुनहरा हो जाता है।

स्थूल चेतना के सात अंक, सूक्ष्म चेतना का एक और अंक, ओर अति सूक्ष्म का एक और अंक, मिलकर 9 बनते हैं–जो गणित विद्या का आधार है। अनन्त शक्तियों की तकसीम इसी 9 अंक से होती है।

यह नौ शक्तियां हैं जिनको धारण करनेवाली तीन शक्तियों के नाम हैं – महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। इन्हीं को ही रौद्री शक्ति, वैशणवी शक्ति और ब्राह्मी शक्ति कहते हैं।

तन्त्र विज्ञान में यही तीन कूट हैं–शक्ति–कूट, मध्य–कूट और वारबल कूट। शक्ति कूट महाकाली का रूप है, मध्य कूट महालक्ष्मी का और वाग्बल कूट महासरस्वती का।
इस्लाम में 786 का अंक, जिसका जोड़ तीन आता है–वह इन तीन शक्तियों का प्रतीक है।
और तीनों को इकट्ठा करने वाली शक्ति को त्रिपुर–सुन्दरी का नाम दिया जाता है।

अलौकिक से लौकिक तक आने, और लौकिक से अलौकिक तक जाने के दो क्रम हैं, जिनको आरोहण कहा जाता है। बिन्दु से धरती पर आने का क्रम आरोहण है और धरती से बिन्दु तक जाने का क्रम अवरोहण।
इसीलिए गृहस्थ–मार्ग के लिए जो त्रिकोण बनाया जाता है, उसका नोक वाला हिस्सा नीचे की ओर होता है, और सन्यास मार्ग के लिए जो कोण बनाया जाता है, उसका नोक वाला हिस्सा ऊपर की ओर होता है।
आदि शक्ति का मध्य–बिन्दु उस त्रिकोण में भी कायम होता है, और इस त्रिकोण में भी। वही बिन्दु महाचेतना का प्रतीक है।
महाचेतना के इस बिन्दु को समझ लिया जाए, तो चेतना की रुख–बदली से गहस्थ और सन्यास की मज्मूई लकीर मिट जाती है।
और फिर ब्रह्माण्ड का कण–कण अपना हो जाता है–इतना कि 'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे।'
यह चेतना अनुभव में उतर आए तो कण कण में एक नाद सुनाई देता है– मीरा के पांव में घुंघरुओं का नाद, जिसके सारे अमल को मैं मीरा–चेतना कह सकती हूं।
यह सारा ब्यौरा मेरी अर्जित जानकारी है, जो कोई भी हासिल कर सकता है। इतनी या इससे भी ज्यादा। सारे आलिम–फाजिल करते हैं। पर मैं आलिम–फाजिल नहीं हूं, इसलिए मानती हूं कि कोई भी जानकारी उतनी देर अपनी नहीं होती, जितनी देर वह अपने अनुभव में नहीं उतरती। इसके कई अंश मेरे अपने अनुभव हैं–इसलिए कहना चाहूंगी कि यह जानकारी कदम–कदम सही है।
मैं परा–काया के कियी अनुभव को यहां दोहराना नहीं चाहती, क्योंकि वे सारे मैंने एक अलग किताब 'लाल धागे का रिश्ता' में कलमबंद किए हुए हैं। यहां सिर्फ एक नज़्म देना चाहूंगी, जो उस किताब में नहीं है, और जो इस सारी जानकारी के अनुभव का हिस्सा है–

मैं–उस एक क्षण की दर्शक हूं...
जब सूरज की एक किरन को
अचानक एक ख्याल आया
और मैंने—
कास्मिक धूल को छिटक दिया
कर्म–धूल को माथे पे लगाया
मैं उस क्षण की दर्शक हूं...

वो कर्म–धूल का एक कण था

जो कण का रिश्ता खोजने निकला
तो एक गहरा सकंल्प बनकर
वो मास की एक कोख में आया...
मैं उस क्षण की दर्शक हूं...

एक किरन से टूटा किरन का टुकड़ा
उस कोख के अंधेरे में बो दिया
और तभी बीज–गाथा कहने के लिए
एक नक्षत्र आकाश पर आया...
मैं उस क्षण की दर्शक हूं...

यह तारा अपहरण की गाथा
न चांद जाने न बृहस्पति जाने
काया को मैंने दर्द का तिलक किया
दर्द, जो छाती से उठा और होठों पे आया
मैं उस क्षण की दर्शक हूं...

हुजरे की मिट्टी

चेतना के एक हुजरे में बैठकर अन्तरमन की यात्रा पर उतर जाना, वह अनुभव है जो शब्दों की पकड़ में नहीं आ सकता। यह मुकाम खामोश हो जाने का होता है।

और हुजरे में बैठे हुए—हुजरे की मिट्टी हो जाना, कुछ भी कहने–सुनने से बेवास्ता हो जाना है।

मिट्टी बोलती नहीं, पर तरंगित हो जाती है और उस वक्त अगर कोई नज़्म कागज पर उतरती है, तो वह कुछ इस तरह होती है – जैसे कांपती हुई लकीरें हवाओं में मिल गई हों, पर दो–चार लकीरें अक्षरों की सूरत अख्तियार कर कई हों।

एक नज़्म है, सिर्फ एक नज़्म, जिसके अक्षरों के पास इन कांपती लकीरों का अनुभव है–

मेरे खुदा, तूने मेरे पेड़ पर आकर
एक दिन मन्नत मांगी थी
ओर अपने चोले से एक कतरन फाड़ कर
पेड़ की टहनी पर बांध दी थी
मैंने अपने खून का एक–एक कतरा
एक–एक अक्षर बना दिया
और वही मेरा एक–एक अक्षर
दुनिया की सूली पर टांग दिया गया
मैंने इस जन्म की लाज बचा ली
आंख को कभी रोने नहीं दिया

मेरे खुदा, अब आओ

और पेड़ पर से वह कतरन खोल लो
और मेरी आत्मा का आखिरी अक्षर
अपनी झोली में डाल लो
इस पेड़ पर तूने जो मुराद मागी थी
वह मुराद पूरी हुई

सिर्फ इतना कह दूं कि यह सारा 'खुदा' लफज रिवायती अर्थों में नहीं है, मेरे लिए यह खलाई–चेतना का नाम है, और उसका मेरे पेड़ पर आकर एक मन्नत मांगना मुझे इस यात्रा पर बुलाना है...

उसका बुलावा मैंने सिर–माथे पर कबूल किया, मेरे खून का हर कतरा सारी उमर एक–एक अक्षर बनता रहा, और मेरी नज़र में यही मेरे जन्म की सार्थकता है...

फ़क्र–फ़ना के मुकाम से कभी कोई लौटकर नहीं आया, जो उसकी बात बताए। यह सब बातें उसके किनारे पर खड़े होकर हुई बातें हैं...

चेतना जब सारे पल्लू झाड़कर उसके किनारे पर पहुंचती है, तो कभी–कभी उसके होंठ थिरकते हैं–जो पैरों में से गुज़रे हुए रास्तों की कुछ बात करते हैं...

उन्हीं बातों में से बात उस वाकये की है–जब आसमान की छाती में बनाई हुई सदियों की दीवारें, एक रात मेरे पास आकर रोई थीं – जो भी सीमाएं क़ौम और क़बीले अपने इर्द–गिर्द बनाते हैं, जो भी दीवारें हर मज़हब अपने चारों ओर बनाता है – वही दीवारें गिरती–पड़ती मेरे पास आई थीं, और मेरे कन्धों से लगकर रोई थीं...और वे रोती–रोती मेरे कन्धों पर गिर गई थीं...

यह वाकया याद करती हूं, तो जैसे बादल घिर आते हैं, एक गहरा अहसास घिर आता है, कि मैं एक हुजरे की मिट्टी, इन दीवारों के मलबे के नीचे पड़ी हुई हूं...

नहीं जानती कि यह मलबा कब तक इस दुनिया में पड़ा रहेगा, पर यह जानती हूं कि मेरे हुजरे की मिट्टी एक बीज बनकर, इस मलबे में से अंकुरित हो जाएगी...

चेतना के बीज को अंधेरों के हवाले होना है, कि उन अंधेरों ने ही फिर किसी काया का अचेतन मन बनना होता है, और उसी अचेतन में से फिर किसी चेतना को जन्म लेना होता है...

वह किसी जन्म में, उस किसी काया का क्या नाम होगा, यह मैं नहीं जानती। पर जो भी नाम होगा, वह मेरा ही होगा।

मेरे से पहले भी, जिसका जो नाम था, वह मेरा था। और मेरे बाद भी, जिसका जो नाम होगा, वह मेरा होगा..

मिट्टी के दीये को जो भी आग का शगुन डालता है, वह मै हूं – और आत्मा का आखिरी अक्षर जो भी खुदा की झोली मे डाल देता है, वह मैं हूं...

शक्ति कणों के साये

मेरे सपनों के साये मेरी उम्र जितने लम्बे हैं। मैं जिंदगी भर उनकी खामोशी को भी देखती रही, और कभी–कभी, जाने कहां से आती – उन की आवाज़ें भी सुनती रही।

'लाल धागे का रिश्ता' पुस्तक में 1989 तक के सपनों का जिक्र है, और 'अज्ञात का निमंत्रण' पुस्तक में उसके बाद 1992 तक का। इसलिए वह सब यहां नहीं कहूँगी। सिर्फ इतना कह सकती हूं–

23 जनवरी 1978 की रात थी, जब शिव की मूर्ति ने अपने हाथ से हवा में ठहरा हुआ एक दीया जलाया था...

11 दिसम्बर 1985 की रात थी जब मैंने अपने पूर्वजन्म की लिखी हुई एक किताब देखी थी...

13 और 14 दिसम्बर 1987 की रात थी जब एक हरी वादी में एक ऊँची–सी चट्टान पर बैठे हुए एक ऋषी ने मुझे दीक्षा दी, इसलिए इन शक्ति कणों की लीला को 'शक्ति कणों के साये' कहना होगा...

"दरवेशों की मेंहदी'' पुस्तक के सारे अनुभव और सारी नज़्में साईं लीला हैं – वे सब प्रकाशित भेंटें हैं, इसलिए यहां नहीं दोहराऊंगी – यहां सिर्फ कुछ उनकी बात करूंगी जो अभी प्रकाशित नहीं हैं –

श्रीनाथ

कल रात देखा कि आसमान का एक टुकड़ा आसमान से अलग दिख रहा है। सोच रही थी कि बादल होगा, आसमान का टुकड़ा कैसे हो सकता है! और फिर देखते–देखते, आसमान का वह टुकड़ा आसमान में मिल गया, साथ ही एक आवाज आई – यह आदि योगी श्रीनाथ थे...

एक दीवानगी थी जो अंतर तक उतर गई कि मुझे श्रीनाथ का दीदार हो गया...पर यह बताने वाला कौन था, मैं नहीं जानती।

कुछ थाह नहीं मिलती कि अंतर मन में पड़े हुए किसी बीज ने अपने में क्या–क्या संभाला होता है, और जिंदगी की कौन–सी धूप और कौन सी छाया होती है–जब इस बीज से फूल भी उग आते हैं, फूल भी, और पता नहीं इसके पत्तों पर किस–किस काल की गाथा लिखी हुई होती है। पर उस गाथा के रंग भी दिखते हैं, आकार भी, और उनसे कई आवाज़ें भी सुनाई देती हैं – जो सदियों की महरम होती हैं – और शायरी भी इसी

बीज की लीला होती है...

उठ नी साहिबाँ सुत्तिए !

पिछले कुछ बरसों से कई बार इस तरह की गनूंदगी तारी हो जाती है, कि करीब तीन दिन सोये–सोये निकल जाते हैं। जागती हुई भी जाग नहीं सकती। गर्दन मस्तक ज़ोर से धड़कते हैं, और एक सांय सांय की आवाज़ कानों में भर जाती है...अब भी कई दिनों से लग रहा था कि मैं हर समय सोई हुई हूँ...

आज 18 जून की दोपहर के बाद बेहोशी जैसी नींद में थी, जब देखा–मैं एक घने जंगल में अकेली चल रही हूँ, सिर पर पीतल की गागर है, पानी से भी हुई। यह पानी कहाँ से भर कर लाई हूँ, और कहाँ ले कर जाना है, कुछ पता नहीं। अचानक लगता है – बहुत थक गई हूँ...

जंगल का कहीं आर–पार नहीं मिल रहा था, कि पीतल की गागर के बोझ से मेरे पैर लड़खड़ाने से लगे। इतने में लगा कि मेरे दायें हाथ एक बड़ा–सा पत्थर है ऊँचा–सा, जिस पर खड़े होकर किसी ने मेरी गागर को सहारा दिया है, सिर से उतारने के लिए।

झांवला सा पड़ा–कि पत्थर पर खड़ा होने वाला, और हाथ का सहारा देने वाला एक बच्चा है–मुश्किल से सात बरस का। वह इसीलिए पत्थर के ऊपर खड़ा था कि उसका हाथ गागर तक पहुँच जाए। उसने हाथ देकर मेरे सिर से गागर उतार दी, और उस समय जो गागर से पानी छलका–मैं उसमें थोड़ी सी भीग गई...इस भीगने से ही सुख मिला। साथ ही देखा–छलकते पानी से गागर मे से बड़े सुर्ख जवाकुसुम के कुछ फूल भी छलक कर आ गए हैं। हैरान–सी थी कि पानी में फूल भी पड़े हुए थे?

वह जो पत्थर पर खड़ा था, वह खिलखिला कर हंस दिया – मैंने चौंक कर उसकी ओर देखा कि वह कौन था? – तो देखा – वह बाल उस का कृष्ण था...यह हैरानी मुझसे सही नहीं गई, मैं आखें खोल कर उसे तलाशने लगी।

कमरे को ठंडा करके सोई थी, इसलिए जागी – तो वह सिर्फ ठंड थी, और अंधेरा। दोपहर पता नहीं कब ढल गई थी, और रात का अंधेरा पता नहीं किस समय उतर आया था। और उसी अंधेरे में मेरे मुंह से निकल–उठ नी साहिबां सुत्तिए!

18 जून 1995

अंदर बूटी मुश्क मचाया

ये चंपा की कलमें, मुर्शिद मनों में लगाते हैं, और वे जब फूलों पर आती हैं, भीतर क्या–क्या घटता है – इसका संकेत तो वे सारे अल्लाह वाले देते हैं, पर उसके ब्यौरे में नहीं उतरते...

सुल्तान बाहु ने जब कहा–'अंदर बूटी मुश्क मचाया, जां फुल्लां ते आई हूं!' तो यह संकेत देकर खामोश हो गये। महक तो समझी जा सकती है, महक से बावरे होना भी, पर सहज की लीला 'मचाया' शब्द में है, पर उस समय काया के साथ क्या–क्या बीती, उसकी बात अक्षरों में उतरती हुई नहीं मिलती।

मेरी समझ में – अपनी काया में शक्ति के जागने के समय को जिस हिम्मत से स्वामी मुक्तानंद जी ने लिखा है – वह एक अपनी मिसाल है। ऐसा ब्यौरा लिखने के

मकसद को भी उन्होंने बयान किया है कि इस रास्ते के कई और यात्रियों को उससे कई दिशा–संकेत मिल सकेंगे, और उनके मददगार होंगे। पर साथ ही वे कहते हैं, ‘जितना लिखने की मेरे गुरु ने आज्ञा दी है, मैंने सिर्फ़ उतना भर लिखा है। उससे ज्यादा लिखने की मुझे आज्ञा नहीं।’

और ये पढ़ते हुए – मैं सोचती रही, कि इससे इंकार नहीं कि कोई मुर्शिद भी सिर्फ़ उतना भर शक्ति–पात करता है, जितना मुरीद की काया सहन कर सके, और लिखा भी उतना ही जा सकता है – जितना कि पढ़ने वाले का सामर्थ्य सहन कर सके–फिर भी...फिर भी...वह जो नहीं कहा जा सकता– क्या उसके संकेत–से नहीं दिए जा सकते?...उनके लिए जिनकी जिज्ञासा उनके होठों पर तड़पती हो...

हाय अल्लाह! ज्यादा समय नहीं हुआ था, जब मैंने जाना कि मैं जो बड़ी बेबाक होकर बड़ा कुछ लिख जाती हूं – मेरी कलम रुकी रह गई है। वह बहुत कुछ है, जिसे कलम नहीं छू सकती ‘दरवेशों की मेंहदी’ के पन्नों पर–मैं नाजुक से नाजुक अनुभव को भी लिख गई थी, पर उसमें भी ‘बीज ब्रह्म की लीला’ लिखते हुए सिर्फ संकेत–भर हो गई थी। उसका ब्यौरा मेरे जिस्म में काँपता रहा था, पर कोई अक्षर उस कंपन के नज़दीक नहीं हो पाया था...मेरे सामने किसी मुर्शिद की इजाज़त या नइजाज़त का सवाल नहीं था, पर जाना–कि कुछ है, जो अपना हुक्म खुद बनता है। वही जो कहने सुनने से परे है। अब जब फिर वह मेरे अंतर में उतरा–तो डायरी के एक पन्ने पर 22 जून की तारीख़ में, उसका संकेत लिख दिया–दो शब्दों में–'महामिलन की रात’ – पर इससे ज्यादा न लिखा है, न लिख सकती हूँ।

दो दरियाओं के किनारे

जिंदगी में जो घटा, वह दो दरियाओं के किनारों तक बैठी के साथ बीता, और या किनारों पर खड़ी हुई के साथ बीता। एक दरिया के किनारे तक पहुँचते–पहुँचते चालीस बरस लग गए थे। और जब किनारे पर खड़ी हुई ने कहा था ‘दिल के इस दरिया को आज पार करना है मैंने’ – उस समय जो अगली बात कही, वह थी–‘इस जग जहान के लहँगे को फिर कुछ समेटना पड़ा’ –

वह पंक्ति सारी हुई बीती को बयान करती है, जो दुनिया की ओर से मुझ पर बीती। और उसने कई इल्ज़ाम मेरे माथे पर धर दिए।

मेरी सारी तड़पती नज़्मों का इतिहास उन बरसों का इतिहास है, जो अपने ही दिल दरिया का किनारा ढूंढती को लग गए, और फिर किनारे पर खड़ी को लग गए।

बहुत छोटी थी, जब कानों में लहरों की आवाज़ पड़ती थी। पता नहीं कहाँ से आती थी, और न पता था कि कोई दरिया चीर कर कहा जाना है, पर हैरान सी ने तब भी लिखा था–किनारे के मुखातिब होकर–कि ‘तू अपना बंधन खोल दे, मुझे लहरों में जाना है’...और फिर वह दिन भर एक तवारीख़ी दिन है – 8 मई 1960 का, जब किनारे पर खडी–मैं दरिया में उतर गई थी...कई बार दरिया में बह जाने का अहसास भी हुआ था। पर आख़िर दूसरे किनारे ने हाथ बढ़ा कर मुझे लहरों में डूबती को थाम लिया था। वह लहरों की गाथा भी फिर कई नज़्मों, कहानियों और नावलों में उतरती रही...

और अब फिर करीब चालीस बरस हो गए हैं, उस नदी के किनारे पर खड़ी हुई हूँ। यहीं खड़े होकर कहा था– मैं चेतना के किनारे पर खड़ी हुई हूं...वह जाने कौन सा काल

था, और कैसा पर्वत था कि जिसकी छाती में से यह प्रश्नों की नदी निकली थी ...

बड़ी वेगमय, किनारे को तोड़ती हुई...
और रात को आसमान के सितारे, जब छाती पर खेलते
तब सितारों को लहरों मे बहा देती
मैं घबरा कर आखें मूंदती
तो एक ऐसी लहर आती
कि मेरे सपने भी भीग जाते
मैं जागती, सपने निचोड़ती
और हाथ में कुछ न आता
सिर्फ एक कंपन जिस्म में उतर जाता...
साईं! किनारे पर खड़ी हुई को जन्म बीते हैं
अब खड़े नहीं हुआ जाता
और सुना है, तू नदी का ख़िज़र है
इसलिए ख़िज़र की बात अब ख़िज़र जाने
पर आज मैंने इस नदी में उतरना है
और सभी प्रश्नों से पार जाना है...

यह अहसास बहुत शिद्दत से 24 मई 1995 के दिन हुआ था, पर देखती हूँ अभी मैं इस प्रश्नों की नदी के किनारे पर खड़ी हूँ।

अज्ञात के संकेत मिलते हैं, पर रास्ता नहीं मिलता, इसलिए प्रश्न भी लहरों की तरह उठते हैं, और मुझे किनारे पर खड़ी हुई को भिगो जाते हैं ...प्रश्नों से पार जाना, पता नहीं कभी नसीब होगा कि नहीं, फिर भी तड़प कर कह जाती हूं– कि मुझे सभी प्रश्नों के पार जाना है...

अक्षरों के साये अमृता प्रीतम की आत्मकथा *रसीदी टिकट* का दूसरा भाग है। यह केवल एक आत्मकथा ही नहीं, बल्कि एक बिलकुल नये, अध्यात्म से जुड़े धरातल पर उसका विवरण प्रस्तुत करती है। बचपन से आज तक के अपने जीवन के सभी अध्यायों और अनुभवों को वह किसी-न-किसी साये के तले जिया गया मानती हैं—जैसे जन्म लेते ही मौत के साये, फिर हथियारों, अक्षरों, सपनों, स्याह ताकतों और चिन्तन के साये—और यह पाठक के सामने एक नितान्त नवीन दुनिया के भीतर झाँककर देखने की उनकी अदम्य इच्छा को व्यक्त करता है।

अनेक दृष्टियों से यह साहित्य की एक विशिष्ट रोमांचक आत्मकथा है, जिसे बचपन से आज तक के उनके क्रमवार फोटो-चित्र दृष्टि के स्तर पर भी उनकी अपनी छाया को उद्भासित करते नज़र आते हैं।

Cover Design